UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180502

UNIVERSAL
LIBRARY

)smania University Library

32.01 Accession No. 1417
BSN
ગાંધીજી ની રાજનીતિ
book should be returned on or before the date last
low.

नाटक

नाटक-रचना की प्रणाली, नियम, नाटक
खेलने के प्रकार तथा नाटकों के
इतिहास का वर्णन आदि

लेखक—
श्रीं बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

दामोदरस्वरूप गुप्त
राजनैतिक-भारत, हिन्दी-रत्न-कोष,
आदर्श स्त्रियाँ आदि के रचयिता

प्रथमावृत्ति]　　१९४१ ई०　　[मूल्य ।)

मुद्रक—
नारायण प्रसाद
नारायण प्रेस
नारायण बिल्डिंग्स,
प्रयाग।

हिन्दी-विश्व-विद्यालय, (हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन) प्रयाग की मध्यम परीक्षा के साहित्य के प्रश्नपत्र २ के लिए स्वीकृत

प्रकाशक —

विश्व-विद्यालय-परीक्षा-बुकडिपो,
पानदरीबा, प्रयाग।

उपक्रम

—✦—

मुद्राराक्षस का जब मैंने अनुवाद किया तब यह इच्छा थी कि टकों के वर्णन का विषय भी इसके साथ दिया जाय। किन्तु एक ो ग्रन्थ के बढ़ने के भय से दूसरे कई मित्रों के अनुरोध से यह विषय वतन्त्र, पुस्तकाकार मुद्रित हुआ। इसके लिखित विषय दशरूपक, ारतीय नाट्यशास्त्र, साहित्यदर्पण, काव्यप्रकाश, विलसन्स हिन्दू-येएटर्स, लाइफ़ आव दि एमिनेंट परसन्स, डामेटिस्ट्स ऐंड नावे-लस्ट्स, हिस्टरी डि इटालिक थिएटर्स, और आर्य दर्शन से लिये गए ैं। आशा है कि हिन्दी भाषा में नाटक बनानेवालों को यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी हो। एक तो मनुष्यबुद्धि ही भ्रमात्मिका है, दूसरे मेरी ठीक रुग्णावस्था में यह विषय लिखा गया है, इससे बहुत सी अशुद्धियाँ सम्भव हैं। आशा है कि सज्जनगण गुणमात्र ग्रहण करके मेरा श्रम सफल करेंगे। इसके निर्माण में मुझको जिससे सहायता मिली है उसको धन्यवाद देने की आवश्यकता नहीं क्योंकि दक्षिण हस्त के परिवर्त्त में वामहस्त जो कार्य करे वह भी निज कृत ही है।

चैत्र शुक्ला १५, संवत् १९४० } हरिश्चन्द्र

समर्पण

हे मायाजवनिकाच्छन्न ! जगन्नाटक-सूत्रधार ! मदंगरंग-नायक ! नटनागर !

जिसने इस इतने बड़े संसार-नाटक को रचकर खड़ा किया है, जगदन्तःपाती वस्तुमात्र उसीको समर्पणीय है; विशेष कर नाटक-सम्बन्धी और वह भी उसीके एक अभिमानी जन की।

नाथ ! आज एक सप्ताह होता कि मेरे इस मनुष्य-जीवन का अन्तिम अंक हो चुकता, किन्तु न जानें क्या सोचकर और किस अनुग्रह करके उसकी आज्ञा नहीं हुई। नहीं तो यह ग्रन्थ प्रकाश न होने पाता। यह भी आप ही का खेल है कि आज इसके प्रकाश का दिन आया। जब प्रकाश होता है तो समर्पण भी होना अवश्य हुआ। अतएव—

त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पये।

अपनाये हुए की वस्तु समझ कर अंगीकार कीजिए। यद्यपि संसार के कुरोग से मन प्राण तो नित्य ग्रस्त थे ही किन्तु चार महीने से शरीर से भी रोगग्रस्त तुम्हारा

हरिश्चन्द्र

बपु लख चौरासी सजे नट सम रिझवन तोहि।
निरखि रीझि गति देहु कै खीझि निवारहु मोहि॥

कृष्ण त्वदीयपदपंकजपंजरान्ते अद्यैव मे विशतु मानसराजहंसः।
प्राणप्रयाणसमये कफवातपित्तैः कंठावरोधनविधौ स्मरणं
कुतस्ते॥२॥

चैत्रशुक्ला पूर्णिमा
महारास की समाप्ति
संवत् १९४०

नाटक

अथवा

दृश्य काव्य

नाटक शब्द का अर्थ है नट लोगों की क्रिया। नट कहते हैं विद्या के प्रभाव से अपने वा किसी वस्तु के स्वरूप के फेर कर देने वाले को, वा स्वयं दृष्टि रोचन के अर्थ फिरने को। नाटक में पात्रगण अपना स्वरूप परिवर्तन करके राजादिक का स्वरूप धारण करते हैं वा वेष-विन्यास के पश्चात् रंगभूमि में स्वीकीय कार्य साधन के हेतु फिरते हैं। काव्य दो प्रकार के हैं। दृश्य और श्रव्य। दृश्य काव्य वह है जो कवि की वाणी को उसके हृदयगत आशय और हाव-भाव सहित प्रत्यक्ष दिखला दे। जैसा कालीदास ने शाकुंतल में भ्रमर के आने पर शकुंतला की सुधी चितवन से कटाक्षों का फेरना जो लिखा है, उसको प्रथम चित्रपटी द्वारा उस स्थान का, शकुंतलावेषसज्जित स्त्री द्वारा उसके रूप-यौवन और वनोचित शृङ्गार का, उसके नेत्र, सिर, हस्तचालनादि द्वारा उसके अंगभंगी और हाव-भाव का, तथा कवि कथित वाणी के उसीके मुख से कथन द्वारा काव्य का, दर्शकों के चित्त पर खचित कर देना ही दृश्यकाव्यत्व है। यदि श्रव्यकाव्य द्वारा ऐसी चितवन का वर्णन किसी से सुनिए या ग्रन्थ में पढ़िए तो जो काव्य-जनित आनन्द होगा, यदि कोई प्रत्यक्ष अनुभव करा दे तो उससे चतुर्गुणित आनन्द होता है। दृश्यकाव्य की संज्ञा रूपक है। रूपकों में नाटक ही सब से मुख्य है इससे रूपक मात्र को नाटक कहते हैं। इसी विद्या का नाम

कुशीलव-शास्त्र भी है। ब्रह्मा, शिव, भरत, नारद, हनुमान्, व्यास, वाल्मीकि, लव-कुश, श्रीकृष्ण, अर्जुन, पार्वती, सरस्वती और तुंबुरु आदि इसके आचार्य हैं। इनमें भरत मुनि इस शास्त्र के मुख्य प्रवर्तक हैं।

अथ भेद

नाटक शब्द की अर्थग्राहिता यदि रंगस्थ खेल ही में की जाय तो हम इसके तीन भेद करेंगे। काव्यमिश्र, शुद्धकौतुक और भ्रष्ट। शुद्धकौतुक यथा—कठपुतली वा खिलौने आदि से सभा इत्यादि व दिखलाना, गूँगे-बहिरे का नाटक, बाज़ीगरी वा घोड़े के तमाशे संवाद, भूत-प्रेतादि की नक़ल और सभ्यता की अन्यान्य दिल्लगियों कं कहेंगे। भ्रष्ट अर्थात् जिनमें अब नाटकत्व नहीं शेष रहा है यथ भाँड़, इन्द्रसभा, रास, यात्रा, लीला और झाँकी आदि। पारसियों के नाटक, महाराष्ट्रों के खेल आदि यद्यपि काव्यमिश्र हैं तथापि काव्यहीन के कारण वे भी भ्रष्ट ही समझे जाते हैं। काव्यमिश्र नाटकों को दो श्रेणी में विभक्त करना उचित है। प्राचीन और नवीन—

अथ प्राचीन

प्राचीन समय में अभिनय नाट्य, नृत्य, नृत्त, तांडव और लास्य इन पांच भेदों में बँटा हुआ था। इनमें नृत्य भावसहित नाचने को, नृत्त केवल नाचने को और तांडव और लास्य भी एक प्रकार के नाचने ही को कहते हैं। इससे केवल नाट्य में नाटक आदि का समावेश होगा; शेष चारों नाचनेवालों पर छोड़ दिए जायँगे। नाट्य रूपक और उप-रूपक में दो भेदों से बँटा है। रूपक के दस भेद हैं। यथा—

१ नाटक

काव्य के सर्वगुण-संयुक्त खेल को नाटक कहते हैं। इसका

नायक कोई महाराज (जैसा दुष्यन्त) वा ईश्वरांश (जैसा श्रीराम) वा प्रत्यक्ष परमेश्वर (जैसा श्रीकृष्ण) होना चाहिए। रस शृंगार वा वीर। अंक पाँच के ऊपर और दस के भीतर। आख्यान मनोहर और अत्यन्त उज्ज्वल होना चाहिए। उदाहरण शाकुंतल, वेणीसंहार आदि।

२ प्रकरण

यह और बातों में नाटक के तुल्य होना चाहिए किन्तु इसका ाख्यान लौकिक हो। नायक कोई मंत्री, धनी वा ब्राह्मण हो। इसकी ेका मत्रिकन्या, किसी के घर में आश्रित भाव से रहने वाली, वा ्या हो। प्रथमावस्था में शुद्ध और द्वितीयावस्था में प्रकरण की ्र संज्ञा होती है। उदाहरण मल्लिकामारुत, मालतीमाधव ौर मृच्छकटिक।

३ भाण

भाण में एक ही अंक होता है। इसमें नट ऊपर देख देखकर, जैसे किसी से बात करे, आप ही सारी कहानी कह जाता है। बीच में हँसना, गाना, क्रोध करना, गिरना इत्यादि आप ही दिखलाता है। इसका उद्देश्य हँसी, भाषा उत्तम और बीच-बीच में संगीत भी होता है। उदाहरण " विषस्य विषमौषधम्। "

४ व्यायोग

युद्ध का निदर्शन, स्त्री-पात्र-रहित और एक ही दिन की कथा का ोता है। नायक कोई अवतार ❀ वा वीर होना चाहिए। ग्रन्थ नाटक

❀ अवतारों का वर्णन भक्तमाल में एकही छप्पय में लिखा है:—

जय जय मीन बराह कमठ नरहरि बल बावन।
परसुराम रघुबीर कृष्ण कीरति जगपावन॥

की अपेक्षा छोटा। उदाहरण 'धनं-जय-विजय।'

५ समवकार

यह तीन अंक में हो। इसमें १२ तक नायक हो सकते हैं। कथा दैवी हो, छन्द वैदिक हों। युद्ध, आश्चर्य, माया इत्यादि इसमें दिखलाई जाती हैं। उदाहरण भाषा में नहीं हैं।

६ डिम

यह भी वैसा ही किन्तु इसमें उपद्रव दर्शन विशेष होता है। अंक चार, नायक देवता वा दैत्य वा अवतार। (उदाहरण नहीं)

७ ईहामृग

चार अंक, नायक ईश्वर वा अवतार। नायिका देवी। प्रेम इत्यादि वर्णित होता है। नायिका द्वारा युद्धादि कार्य सम्पादन होता है। (उदाहरण नहीं)

८ अंक

एक ही अंक में खेल दिखलाना। नायक गुणी और आख्यान प्रसिद्ध हो। (उदाहरण नहीं)

९ वीथी

भाण की भाँति एक अंक में। इसमें दो पुरुष आकर बात कर सकते हैं और अपनी वार्त्ता में विविध भाव द्वारा किसी का प्रेम वर्णन करेंगे किन्तु हँसाते जायँगे। (उदाहरण नहीं)

बौध कलंकी व्यास पृथू हरि हंस मन्वंतर।
यज्ञ ऋषभ हयग्रीव ध्रुवहि वर देन धन्वंतर॥
बद्रीपति दत्त कपिल देव सनकादिक करुना करौ।
चौबीस रूप लीला रुचिर अग्रदास उर पद धरौ॥

१० प्रहसन

हास्यरस का मुख्य खेल। नायक राजा वा धनी वा ब्राह्मण वा धूर्त कोई हो। इसमें अनेक पात्रों का समावेश होता है। यद्यपि प्राचीन रीति से इसमें एक ही अंक होना चाहिए किन्तु अब अनेक दृश्य दिए बिना नहीं लिखे जाते। उदाहरण—हास्यार्णव, वैदिकी हिंसा, अन्धेर नगरी।

महानाटक

नाटक के लक्षणों से पूर्ण ग्रन्थ यदि दश अंकों में पूर्ण हो तो उसको महानाटक कहते हैं।

अथ उपरूपक

उपरूपक के अठारह भेद हैं। यथा नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थान, उल्लाप्य, काव्य, प्रेंखण, रासक, संलापक, श्रीगदित (श्रीरासिका), शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लीश और भाणिका।

नाटिका

नाटिका में चार अंक होते हैं और स्त्री पात्र अधिक होते हैं तथा नाटिका की नायिका कनिष्ठा होती है अर्थात् नाटिका के नायक की पूर्व-प्रणयिनी के वश में रहती है। उदाहरण—रत्नावली, चन्द्रावली इत्यादि।

त्रोटक

इसमें सात, आठ, नौ या पाँच अंक होते हैं। और प्रायः प्रति अंक में विदूषक होता है। नायक दिव्य मनुष्य होता है। उदाहरण—विक्रमोर्वशी।

गोष्ठी

नौ या दस साधारण मनुष्य और पाँच-छः स्त्री जिसमें हों और कैशिकी वृत्ति तथा एक ही अंक हो। (उदाहरण नहीं)

सट्टक

जो सब प्राकृत में हो और प्रवेशक, विष्कंभक जिसमें न हों और शेष सब नाटिका की भाँति हो वह सट्टक है। उदाहरण—कर्पूरमंजरी।

नाट्यरासक

इसमें एक अंक, नायक उदात्त, नायिका बासकसज्जा, पीठमर्द उपनायक, और अनेक प्रकार के गान नृत्य होते हैं।

अथ शेष उपरूपक

योंही थोड़े-थोड़े भेद में और भी शेष उपरूपक होते हैं। न तो सबों के भाषा में उदाहरण हैं न इन सबों का काम ही विशेष पड़ता है, इससे सविस्तर वर्णन नहीं किया गया।

भरत मुनि ने उपरूपकों के भेद नहीं लिखे हैं। दश प्रकार के रूपक लिखकर नाटक के दो भेद और माने हैं यथा नाटिका और त्रोटक। मल्लिका मारुत-प्रकरणकार दंडी कवि रूपकमात्र को मिश्रकाव्य नाम से व्यवहृत करते हैं।

अथ नवीन भेद

आजकल योरोप के नाटकों की छाया पर जो नाटक लिखे जाते हैं और बंग देश में जिस चाल के बहुत से नाटक बन भी चुके हैं वह सब नवीन भेद में परिगणित हैं। प्राचीन की अपेक्षा नवीन की परम मुख्यता बारंबार दृश्यों के बदलने में है और इसी हेतु एक-एक अंक में अनेक-अनेक गर्भांकों की कल्पना की जाती है क्योंकि इस समय

में नाटक के लेखों के साथ विविध दृश्यों का दिखलाना भी आवश्यक समझा गया है। इन अंक और गर्भांकों की कल्पना यों होनी चाहिए, यथा पाँच वर्ष के आख्यान का एक नाटक है तो उसमें वर्ष वर्ष के इतिहास के एक-एक अंक और उस अंक के अंतःपाती विशेष-विशेष समयों के वर्णन का एक-एक गर्भाङ्क। अथवा पाँच मुख्य घटना-विशिष्ट कोई नाटक है तो प्रत्येक घटना के सम्पूर्ण वर्णन का एक-एक अंक और भिन्न-भिन्न स्थानों में विशेष घटनांतःपाती छोटी-छोटी घटनाओं के वर्णन में एक-एक गर्भांक। ये नवीन नाटक मुख्य दो भेदों में बंटे हैं —एक नाटक, दूसरा गीतिरूपक। जिनमें कथा भाग विशेष और गीति न्यून हो वह नाटक और जिसमें गीति विशेष हो वह गीतिरूपक। यह दोनों कथाओं के स्वभाव से अनेक प्रकार के हो जाते हैं किन्तु उनके मुख्य भेद इतने किये जा सकते हैं यथा—१ संयोगांत—अर्थात् प्राचीन नाटकों की भाँति जिसकी कथा संयोग पर समाप्त हो। २ वियोगांत—जिसकी कथा अंत में नायिका वा नायक के मरण वा और किसी आपद घटना पर समाप्त हो। (उदाहरण "रणधीर प्रेम-मोहिनी")। ३ मिश्र—अर्थात् जिसके अंत में कुछ लोगों का तो प्राण-वियोग हो और कुछ सुख पावें।

इन नवीन नाटकों की रचना के मुख्य उद्देश्य ये होते हैं यथा—१ शृङ्गार २ हास्य ३ कौतुक ४ समाज-संस्कार ५ देश-वत्सलता। शृङ्गार और हास्य के उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं, जगत् में प्रसिद्ध है। कौतुकविशिष्ट वह है जिसमें लोगों के चित्तविनोदार्थ किसी यंत्रविशेष द्वारा या और किसी प्रकार अद्भुत घटना दिखाई जायँ। समाज-संस्कारक नाटकों में देश की कुरीतियों का दिखलाना मुख्य कर्तव्य कर्म है। यथा शिक्षा की उन्नति, विवाह-सम्बन्धी कुरीति-निवारण, अथवा धर्म-सम्बन्धी अन्यान्य विषयों में संशोधन इत्यादि। किसी प्राचीन कथा भाग का इस बुद्धि से संगठन कि, देश की उससे कुछ उन्नति हो इसी प्रकार के अंतर्गत

है। (इसके उदाहरण, सावित्रीचरित्र, दुःखिनीबाला, बाल्यविवाहविदूषक, जैसा काम वैसा ही परिणाम, जय नारसिंह की, चक्षुदान इत्यादि।) देश-वत्सल नाटकों का उद्देश्य पढ़नेवालों व देखनेवालों के हृदय में स्वदेशानुराग उत्पन्न करना है और ये प्रायः करुण और वीर रस के होते हैं। (उदाहरण—भारतजननी, नीलदेवी, भारतदुर्दशा इत्यादि)। इन पाँच उद्देश्यों को छोड़कर वीर, सख्य इत्यादि अन्य रसों में भी नाटक बनते हैं।

अथ नाटक-रचना

प्राचीन समय में संस्कृत भाषा में महाभारत आदि का कोई प्रख्यात वृत्तान्त अथवा कवि-प्रौढ़ोक्ति संभूत, किंवा लोकाचारसंघटित, कोई कल्पित आख्यायिका अवलम्बन करके, नाटक प्रभृति दशविध रूपक और नाटिका प्रभृति अष्टादश प्रकार उपरूपक लिपिबद्ध होकर, सहृदय सभासद लोगों की तात्कालिक रुचि अनुसार, उक्त नाटक-नाटिका प्रभृति दृश्यकाव्य किसी राजा की अथवा राजकीय उच्चपदाभिषिक्त लोगों की नाट्यशाला में अभिनीत होते थे।

प्राचीन काल के अभिनयादि के सम्बन्ध में तात्कालिक कवि लोगों की और दर्शक-मंडली की जिस प्रकार रुचि थी, वे लोग तदनुसार ही नाटकादि दृश्यकाव्य-रचना करके सामाजिक लोगों का चित्त-विनोदन कर गये हैं। किन्तु वर्तमान समय में इस काल के कवि तथा सामाजिक लोगों की रुचि उस काल की अपेक्षा अनेकांश में विलक्षण है, इससे संप्रति प्राचीन मत अवलम्बन करके नाटक आदि दृश्य-काव्य लिखना युक्तिसंगत नहीं बोध होता।

जिस समय में जैसे सहृदय जन्म ग्रहण करें और देशीय रीति-नीति का प्रवाह जिस रूप से चलता रहे, उस समय में उक्त सहृदयगण के अन्तःकरण की वृत्ति और सामाजिक रीति-पद्धति इन दोनों विषयों की

समीचीन समालोचना करके नाटकादि दृश्य-काव्य प्रणयन करना योग्य है।

नाटकादि दृश्य-काव्य प्रणयन करना हो तो प्राचीन समस्त रीति ही परित्याग करे यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि जो सब प्राचीन रीति वा पद्धति आधुनिक सामाजिक लोगों की मतपोषिका होंगी वह सब अवश्य ग्रहण होंगी। नाट्यकला-कौशल दिखलाने को देश, काल और पात्रगण के प्रति विशेष रूप से दृष्टि रखनी उचित है। पूर्वकाल में लोकातीत असम्भव कार्य की अवतारणा सभ्यगण को जैसी हृदय-हारिणी होती थी, वर्तमान काल में नहीं होती।

अब नाटकादि दृश्य-काव्य में अस्वाभाविक सामग्री-परिपोषक काव्य सहृदय सभ्य-मण्डली को नितांत अरुचिकर है, इसलिये स्वाभाविकी रचना ही इस काल के सभ्यगण की हृदय-ग्राहिणी है, इससे अब अलौकिक विषय का आश्रय करके नाटकादि दृश्य-काव्य प्रणयन करना उचित नहीं है। अब नाटक में कहीं 'आशीः' (क) प्रभृति नाट्यालंकार, कहीं 'प्रकरी' (ख), कहीं 'विलोभन' (ग), कहीं 'सम्फेट' (घ), 'पंचसन्धि' (ङ), वा ऐसे ही अन्य विषयों की कोई

(क) आशीः नाटक में जो आशिर्वाद कहा जाय। यथा शाकुन्तल में 'ययातेरिव शर्मिष्ठा पत्युर्बहुमता भव'।

(ख) 'प्रकरी नायकस्य स्यान्नाटकीयफलान्तरम्'।

(ग) 'गुणाख्यानं विलोभनं' यथा वेणीसंहार में 'नाथ किं दुष्करं तुए परिकुविदेते'।

(घ) 'सम्फेटो रोष भाषणम्' यथा वेणीसंहार में 'राजा—अरे मरुत्तनय! वृद्धस्य राज्ञः पुरतो निन्दितमप्यात्मकर्म श्लाघयसि'।

(ङ) पंचसंधि यथा—'मुखं प्रतिमुखं गर्भो विमर्ष उपसंहृतिः। इति पंचास्य भेदाःस्युः'।

आवश्यकता नहीं बाक़ी रही। संस्कृत नाटक की भाँति हिन्दी नाटक में इनका अनुसन्धान करना, वा किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक रखकर हिन्दी नाटक लिखना व्यर्थ है, क्योंकि प्राचीन लक्षण रखकर आधुनिक नाटकादि की शोभा सम्पादन करने से उल्टा फल होता है और यत्न व्यर्थ हो जाता है। संस्कृत नाटकादि रचना के निमित्त महामुनि भरतजी जो सब नियम लिख गये हैं उनमें जो हिन्दी नाटक-रचना के नितान्त उपयोगी हैं और इस काल के सहृदय सामाजिक लोगों की रुचि के अनुयायी हैं वे ही नियम यहाँ प्रकाशित होते हैं।

अथ प्रतिकृति (Scenes)

किसी चित्रपट द्वारा नदी, पर्वत, वन वा उपवन आदि की प्रतिच्छाया दिखलाने को प्रतिकृति कहते हैं। इसी का नामान्तर अन्तःपटी वा चित्रपट वा दृश्य वा स्थान है*। यद्यपि महामुनि भरत-प्रणीत नाट्यशास्त्र में, चित्रपट द्वारा प्रासाद, वन, उपवन किंवा शैल प्रभृति की प्रतिच्छाया दिखाने का कोई नियम स्पष्ट नहीं लिखा है, किन्तु अनुधावन करने से बोध होता है कि तत्काल में भी अन्तःपटी परिवर्त्तन द्वारा वन, उपवन वा पर्वतादि की प्रतिच्छाया अवश्य दिखलाई जाती थी। ऐसा न होता तो पौर-जानपदवर्ग के अपवादभय से श्रीरामकृत सीतापरिहार के समय में उसी रंगस्थल में एक ही बार अयोध्या का राज-प्रासाद और फिर उसी समय वाल्मीकि का तपोवन कैसे दिखलाई पड़ता। इससे निश्चय होता है कि प्रतिकृति के परिवर्त्तन द्वारा पूर्वकाल में यह सब अवश्य दिखलाया जाता था। ऐसे ही अभिज्ञान-शाकुंतल नाटक के आभनय करने के समय सूत्रधार एक ही

---

*वर्त्तमान समय में जहाँ जहाँ ये दृश्य बदलते हैं उसी को गर्भांक कहते हैं।

स्थान में रह कर परदा बदले बिना कैसे कभी तपोवन और कभी दुष्यन्त का राजप्रासाद दिखला सकेगा* यही सब बात प्रमाण हैं कि उस काल में भी चित्रपट अवश्य होते थे। ये चित्रपट नाटक में अत्यन्त प्रयोजनीय वस्तु हैं और इनके बिना खेल अत्यन्त नीरस होता है।

† जवनिका वा बाह्यपटी (Drop Scene)

कार्य-अनुरोध से समस्त रंगस्थल को आवरण करने के लिए नाट्यशाला के सम्मुख जो चित्र प्रक्षिप्त रहता है उसका नाम जवनिका वा बाह्यपटी है। जब रंगशाला में चित्रपट-परिवर्त्तन का प्रयोजन होता है उस समय यह जवनिका गिरा दी जाती है। संस्कृत नाटकों में जवनिका-पतन का नियम देखने से और भी प्रतीत होता है कि अन्तः-

---

*मुद्राराक्षस में भी कई उदाहरण इसके प्रत्यक्ष मिलते हैं। मलयकेतु राक्षस से मिलने जाता है, यह कहकर उसी अंक में कहते हैं कि आसन पर बैठा राक्षस दिखलाई पड़ा। स्मशान से चन्दनदास को लेकर चांडाल कुछ बढ़कर पुकारता है कि भीतर कौन है, अमात्य चाणक्य से कहो इत्यादि। अर्थात् पूर्व के दोनों दृश्य बदल कर राक्षस के और चाणक्य के घर के दृश्य दिखलाई पड़े। यह न हो तब तो नाटक निरे व्यर्थ हो जाते हैं जैसा रास में महाराष्ट्रों के नाटक में शतरंजी और मशालची को दिखला कर नायिकानायक कहते हैं कि अहा देखो! यह फुलवारी वा नदी कैसी सुन्दर है। इससे जहाँ पात्र जैसे स्थान का अपने वाक्य में वर्णन करे वा जिस स्थान की वह कथा हो, उसका चित्र पीछे पड़ा रहना बहुत ही आवश्यक है।

† इस परदे पर कोई सुन्दर मनोहर नदी, पर्वत, नगर इत्यादि का दृश्य वा किसी प्रसिद्ध नाटक के किसी अंक का चित्र दिखलाना अच्छा होता है।

पटी-परिवर्त्तन द्वारा गिरि-नदी आदि की प्रतिच्छाया उस काल में भी अवश्य दिखलाई जाती थी।

"ततः प्रविशन्त्यपटीक्षेपेणाप्सरसः"

अर्थात् जवनिका बिना गिराए ही (उर्व्वशी-विरहातुर) अप्सरागण ने रंगस्थल में प्रवेश किया इत्यादि दृष्टान्त ही इसके प्रमाण हैं।

अथ प्रस्तावना

नाटक की कथा आरंभ होने के पूर्व नटी, विदूषक किंवा पारिपार्श्विक सूत्रधार से मिलकर प्रकृत प्रस्ताव-विषयक जो कथोपकथन करें, नाटक के इतिवृत्त-सूचक उस प्रस्ताव को प्रस्तावना कहते हैं। नाटक की नियमावली में मुनिवर भरताचार्य ने पाँच प्रकार की प्रस्तावना लिखी हैं। वह पाँचों प्रणाली अति आश्चर्य-भरित और सुन्दर हैं। उसमें से चार हिन्दी नाटक में भी व्यवहार की जा सकती हैं। सूत्रधार के पार्श्वचर बन्धु को पारिपार्श्विक कहते हैं। पारिपार्श्विक की अपेक्षा नट कुछ न्यून होता है। अब पूर्व-लिखित पाँच प्रकार की प्रस्तावना लिखते हैं।

यथा—१ उद्घात्यक, २ कथोद्घात, ३ प्रयोगातिशय, ४ प्रवर्त्तक, और ५ अवगलित।

अथ उद्घात्यक

सूत्रधार प्रभृति की बात सुनकर अन्य प्रकार अर्थ प्रतिपादन-पूर्व्वक जहाँ पात्र प्रवेश होता है उसे उद्घात्यक प्रस्तावना कहते हैं।

उदाहरण—मुद्राराक्षस

सूत्र०—प्यारी, मैंने जोतिःशास्त्र के चौसठों अंगों में बड़ा परिश्रम किया है। जो हो रसोई तो होने दो। पर आज गहन है, यह

तो किसी ने तुम्हें धोखा ही दिया है। क्योंकि—
चन्द्रबिंब पूरन भए, क्रूर केतु हठ दाप।
बल सों करि है ग्रास कह—

(नेपथ्य में)

हैं! मेरे जीते चन्द्र को कौन बल से ग्रास कर सकता है?

सूत्र०— जेहि बुध रच्छत आप।

यहाँ सूत्रधार ने तो ग्रहण का विषय कहा था किन्तु चाणक्य ने चन्द्र शब्द का अर्थ चन्द्रगुप्त प्रगट करके प्रवेश करना चाहा, इसी से उद्घात्यक प्रस्तावना हुई।

अथ कथोद्घात

जहाँ सूत्रधार की बात सुनकर उसके साथ वाक्य के अर्थ का मर्म ग्रहण करके पात्र प्रविष्ट होते हैं उसे कथोद्घात कहते हैं।

यथा रत्नावली में, सूत्रधार के इस कहने पर कि ईश्वरेच्छा से द्वीपान्तर किंवा समुद्र के मध्य की वस्तु भी सहज में मिल जाती है, यौगधरायण का आना।

यहाँ सूत्रधार के वाक्य का मर्म यह था कि जिस नाटक में द्वीपान्तर की नायिका आती है, वह खेला जायगा इसी को समझ कर अन्य नट मंत्री बन कर आया।

अथ प्रयोगातिशय

एक प्रयोग करते करते घुणाक्षरन्याय से दूसरे ही प्रकार का प्रयोग कौशल में प्रयुक्त और उसी प्रयोग का आश्रय करके पात्र प्रवेश करें तो उसको प्रयोगातिशय प्रस्तावना कहते हैं।

जैसे कुन्दबाला नामक नाटक में सूत्रधार ने नृत्य प्रयोग के निमित्त

अपनी भार्या को आह्वान करने के प्रयोग विशेष द्वारा सीता और लक्ष्मण का प्रवेश सूचित किया*। इस प्रकार से नाटक की प्रस्तावना शेष होने पर पात्र प्रवेश और नाटकीय इतिवृत्त की सूचना होगी।

अथ चर्चरिका

जब जब एक एक विषय समाप्त होगा जवनिका-पात करके पात्रगण अन्य विषय दिखलाने को प्रस्तुत होंगे तब पटाक्षेप के साथ ही नेपथ्य में चर्चरिका आवश्यक है, क्योंकि बिना उसके अभिनय शुष्क हो जाता है। जहाँ बहुत स्वर मिलकर कोई बाजा बजे या गान हो उसको चर्चरिका कहते हैं। इसमें नाटक की कथा के अनुरूप गीतों का वा रागों का बजना योग्य है। जैसे सत्यहरिश्चन्द्र में प्रथम अंक की समाप्ति में जो चर्चरिका बजै वह भैरवी आदि सबेरे के राग की और तीसरे अंक की समाप्ति पर जो बजै वह रात के राग की होनी चाहिए।

कैशिकी, सात्वती, आरभटी, और भारती वृत्ति

अथकैशिकीवृत्ति

जो वृत्ति अति मनोहर, स्त्री जनोचित भूषण से भूषित, और रमणी-

---

*ऐसा मालूम होता है कि यहाँ ग्रन्थकार की भूल से प्रवर्त्तक और अवगलित के लक्षण छूट गये हैं; अतः पाठकों की जानकारी के लिए नीचे लिखे जाते हैं :—

१—जहाँ सूत्रधार द्वारा वर्णित किसी गुप्त बात के आधार पर किसी पात्र का प्रवेश होता है, उसे प्रवर्त्तक कहते हैं। २—जहाँ एक प्रयोग में किसी समावेश (सादृश्यानुसंधान) से दूसरा कार्य सिद्ध हो, उसे अवगलित कहते हैं। संपादक—

बाहुल्य नृत्य* गीतादि परिपूर्ण और भोगादि विविध विलास युक्त होती है उसका नाम कैशिकी वृत्ति है। यह वृत्ति शृङ्गाररस-प्रधान नाटकों की उपयोगिनी है।

---

*हिन्दुस्तान से नृत्यविद्या उठ गई। यह विद्या आगे इस देश में ऐसी प्रचलित थी कि सब अच्छे लोग इसको सीखते थे। इसके शास्त्र अब तक कहीं-कहीं लब्ध होते हैं और उनसे इस विद्या का महत्त्व प्रत्यक्ष प्रगट होता है। संगीतशास्त्र का यह एक अंग है। वाद्य, नृत्य और गाना यह तीनों वस्तु जिसमें हों उसकी संगीत संज्ञा है। इस काल में हिन्दुस्तान में संगीत शास्त्र जानने वालों का कुछ आदर नहीं और लोग इस विद्या से लज्जा करते हैं, परन्तु यही इस देश के दुर्दिन का उदाहरण है। अब भी भारतवर्ष के जिस प्रदेश में यह विद्या बच गई है वहाँ बहुत अच्छी है जैसा कि १८७१ ई० में श्री महाराज त्र्यङ्कटगिरि के संग एक नर्त्तकी शारदा नाम की आई थी। निस्सन्देह वह इस विद्या में बहुत प्रवीण थी। नृत्त और नृत्य दोनों में अपूर्व काम करती थी। इस देश की नर्त्तकी तो केवल मुखावलोकन ही के योग्य होती हैं, गुण तो उनके पास भी नहीं निकलता। परन्तु वह "यथानाम तथागुणाः" को सत्य करती थी। नृत्य और नृत्त में यह भेद है कि "भवेद्भावाश्रयं नृत्तंनृत्यं तललयाश्रयम्" जिसमें भाव मुख्य हो वह नृत्त और जिसमें लय मुख्य हो वह नृत्य कहलाता है। भाव नेत्र, भौंह, मुख और हाथ और स्वर से भी प्रगट होते हैं। लय भी हाथ, पैर, गले और भौंह से होती है। नृत्य के शास्त्रों में १०८ भेद लिखे हैं और लाग, डाँट, उड़प, तिरप, हस्तक भेद इत्यादि इसके अंग हैं, जिसमें केवल घुँघरू बजाने के ७ मुख्य भेद हैं। लास्य और ताण्डव इसके दो मुख्य अंग हैं और यह नृत्त एक से लेकर बहुत से मनुष्यों से भी होता है। पुरुष और स्त्री दोनों इसके अधिकारी हैं परन्तु नृत्य भेद से किसी में केवल पुरुष, किसी में केवल स्त्री और किसी में दोनों होते हैं। हम ईश्वर से प्रार्थना करते हैं

अथ सात्वती वृत्ति

जिस वृत्ति द्वारा शौर्य्य, दान, दया और दाक्षिण्य प्रभृति से वीरोचिता, विविध गुणान्विता, आनन्द-विशेषोद्भाविनी, सामान्य विलासयुक्ता, विशोका और उत्साह-वर्द्धिनी वाग्भंगी नायक-कर्तृक प्रयुक्त होती है उसका नाम सात्वती वृत्ति है। वीररस-प्रधान नाटक में इसकी आवश्यकता होती है।

अथ आरभटी

माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, आघात, प्रतिघात और बन्धनादि विविध रौद्रोचितकार्यजड़ित वृत्ति का नाम आरभटी है। रौद्ररस वर्णन के स्थल में इस वृत्ति पर दृष्टि रखनी चाहिए।

अथ भारती

साधुभाषाबाहुल्य वृत्ति का नाम भारती वृत्ति है। वीभत्स रस वर्णन-स्थल में यह व्यवहृत होती है। नाटककर्त्ता ग्रन्थ-गुम्फन करने के समय यदि आद्यरस-प्रधान नाटक लिखने की इच्छा करेंगे, तो उनको कैशिकी वृत्ति ही में समस्त वर्णन करना योग्य है। आद्यरस वर्णन करने के समय ताल ठोकना, मुग्दर घुमाना वा असिक्षेप प्रकृति वीरोचित विषयक कोई भी वर्णन नहीं करना चाहिए। सात्वती प्रभृति वृत्तियों के पक्ष में भी ठीक यही चाल है।

अथ उपक्षेप

अभिनयकार्य के प्रथम संक्षेप में समस्त नाटकीय विवरण कथन का नाम उपक्षेप है।

कि यह विद्या-सम्बन्धी सङ्गीतशास्त्र हम लोगों में फैले और यह प्रचलित मूर्खतामय लज्जा का कारण विषय-रूपी संगीत हमारे शत्रुओं को मिले।

पूर्वकाल में मुद्रायंत्र* की सृष्टि नहीं हुई थी, इस हेतु रंगस्थल में नट,नटी, सूत्रधार अथवा पारिपार्श्विक कर्तृक उपक्षेप का उल्लेख होता था। आजकल मुद्रायंत्र के प्रभाव से इसकी कुछ आवश्यकता नहीं रही। प्रोग्राम बाँट देने ही से वह काम सिद्ध हो जायगा।

---

* यद्यपि छापे की विद्या बहुत दिनों से भारतवर्ष में प्रचलित है इसमें कुछ संदेह नहीं, किन्तु आजकल जैसा इसकी उन्नति है और इससे पत्र और पुस्तक आदि छप-छप के प्रकाशित होते हैं, यह भी कभी यहाँ था कि नहीं सो कुछ निश्चय नहीं है। श्रीकृष्ण के समय जब राजा शाल्व ने द्वारवतीपुरी का आक्रमण किया, उस समय वहाँ यह बन्दोबस्त किया था कि "नचाऽमुद्रोऽभिनिर्याति नैवान्तः प्रविशेदपि" महाभारत वनपर्व; अर्थात् बिना राजकीय नाम की मोहर छाप के कोई नगर से निकल नहीं सके और कोई भीतर भी न आवे। यहाँ स्पष्ट ही देख लीजिए कि छापे को मुद्रा से एक जगह के अक्षर दूसरी जगह उतारे जाते थे। मुद्राराक्षस नाटक, जो राजा चन्द्रगुप्त के समसामयिक वा कुछ उत्तरवर्ती काल में बना है, यहाँ भी राक्षस-नामाङ्कित मुद्रा प्रसिद्ध ही है। इस प्रकार यद्यपि मुद्रण-विधि का मूल तो आर्य्य शास्त्रों में प्रायः मिलता है, किन्तु इसकी उन्नति करके देशान्तरीय लोगों ने जैसा इससे लाभ उठाया है वैसा भारतीय आर्य्य लोगों ने कुछ भी नहीं किया, यह सभी कोई कह सकते हैं; अतएव यह मुद्रण-विद्या देशान्तर ही से चली और अनार्य्य लोग ही इसके आद्य आचार्य्य हुए, यह बात हमको भी खुले मुँह कहनी पड़ती है।

छापा यन्त्र बनाने के निमित्त अनेक लोग ही सम्मान प्राप्त होने के योग्य हैं, किन्तु वास्तव में इंग्लैंड देश के हार्लेम नगर में यह यन्त्र पहले ही पहिले निर्मित हुआ, यह प्रायः सभी स्वीकार करते हैं। उक्त नगर के शासनकर्त्ता लौरेंस कोंसर साहिब ने, शक १४४० चौदह सौ चालीस में, इसका निर्माण किया और आद्य प्रादुर्भावकर्त्ता के निमित्त, सब से प्रथम

पूर्वकाल में नाटक मात्र में उपक्षेप उपन्यस्त होता था, यह नियम नहीं था; क्योंकि सब नाटकों मे उपक्षेप का उल्लेख दिखाई नहीं पड़ता। वेणीसंहार में इसका उल्लेख है किन्तु यह भीमकृत उपन्यस्त हुआ है।

यथा भीम—

"लाक्षागृहानलविषान्नसभा प्रवेशैः, प्राणेषुवित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य।
आकृष्य पाण्डववधूपरिधानकेशान्, सुस्था भवन्ति मयि जीवति-
धार्त्तराष्ट्राः !"

अथ प्ररोचना

जिसके अनुष्ठान द्वारा अभिनयदर्शन में सामाजिक लोगों की प्रवृत्ति जन्मती है उसका नाम प्ररोचना है। यह सूत्रधार, नट, पारिपार्श्विक वा नटी के द्वारा विगीत होती है।

वही सम्माननीय हुआ। वह एक दिन, अपने समीपस्थ किसी बगीचे में जाके एक वृक्ष की गीली त्वचा काट के, उससे अपने नाम के अक्षर बना बना एक क्रीड़ा सी कर रहा था। वे ही अक्षर काट-काट के जब उसने एक किसी काग़ज़ के ऊपर रख दिये थे, उसी समय एक वायु का झोंका आया और वे अक्षर जो उस वृक्ष के रस से गीले हो रहे थे, उनकी समस्त आकृति वायुवेग से हठात् उस काग़ज़ पर उखड़ आई। साहिब ने जब उक्त घटना देखी तो पीछे अपनी विवेचना द्वारा वह और और भी अनेक प्रकार की परीक्षा करने लगा, फिर उसने काष्ठ के अक्षर बना के एक प्रकार सघन और द्रव वस्तु में उनको डुबा के छापा किया, तब और भी कुछ उत्तम छपा हुआ मालूम दिया। शेष में उसने सीसा एवं सीसा और राँगा मिले हुए धातु से अक्षर बना के, यन्त्र के निमित्त एक स्वतंत्र स्थान निर्माण किया। इस प्रकार उस काल से ले के अद्य पर्य्यन्त इस उत्तम मुद्रणविद्या की वृद्धि होती हो चली आती है। उक्त

अथ नेपथ्य

रंगस्थल के पश्चात् भाग में जो एक गुप्त स्थान रहता है उसका नाम नेपथ्य है।

अलंकारयिता इसी स्थान में पात्रों को वेश भूषणादि से साजते हैं। जब रंगभूमि में आकाशवाणी, दैवीवाणी अथवा और कोई मानुषीवाणी का प्रयोजन होता है तो वह नेपथ्य ही में से गाई या कही जाती है।

अथ उद्देश्यबीज

गुम्फित आख्यायिका के समग्र मर्म्म का नाम उद्देश्यबीज है। कवि जो इसका साधन न कर सकेगा तो उसका ग्रन्थ नाटक में परिगणित न होगा।

लौरेंस साहिब के पास एक उसका नौकर "योहन्फस्तस्" नामक रहता था, उसने गुप्त भाव से अपने स्वामी की विद्या चुराई और वहाँ से आ के मेंडस नामक नगर में, उक्त मुद्रणविद्या का प्रकाश किया। अतएव वह उस देश में उस नूतन विद्या द्वारा विद्वान् और मायावी के नाम से स्वयं विख्यात हुआ।

भारतवर्षीय उन्नति के समय और उसके बाद जब यूनान और रोमदेशीय लोगों की उन्नति का समय आया तो, वहाँ भी केवल जो धनी और बड़े आदमी होते थे, अथवा अधिक परिश्रम करते थे, वही हस्तलिखित पुस्तकों द्वारा विद्या-उपार्जन कर सकते थे, किन्तु आज छापे द्वारा विविध विद्याविभूषित पुस्तकें, सर्वसाधारण को सहज ही में प्राप्त हो सकती हैं, इससे मनुष्य-समाज में एक नूतन युग सा आविर्भूत हुआ दिखाई देता है, इसमें कुछ सन्देह नहीं। (ध० दि०)

अथ वस्तु

नाटकीय इतिहास अथवा कोई विवरण विशेष का नाम वस्तु है। वस्तु दो प्रकार की हैं यथा—आधिकारिक वस्तु और प्रासंगिक वस्तु।

अथ आधिकारिक वस्तु

जो समस्त इतिवृत्त का प्रधान नायक होता है उसको अधिकारी कहते हैं। अधिकारी का आश्रय करके जो वस्तु विरोचित होती है, उसका नाम आधिकारिक वस्तु है। जैसा उत्तरचरित।

अथ प्रासंगिक वस्तु

इस आधिकारिक इतिवृत्त का रस पुष्ट करने के लिये प्रसंग-क्रम में जो वृत्त लिखा होता है, उसका नाम प्रासंगिक वस्तु है। जैसा बालरामायण में सुग्रीव विभीषणादि का चरित्र।

अथ मुख्य उद्देश्य

प्रसंग-क्रम से नाटक में कितनी भी शाखा-प्रशाखा विस्तृत हों, और गर्भांक के द्वारा आख्यायिका के अतिरिक्त और कोई विषय वर्णित हो किन्तु मूल प्रस्ताव निष्कम्प रहे तो उसकी रसपुष्टि करने को मुख्य उद्देश्य कहा जाता है।

अथ अभिनय

कालकृत अवस्था-विशेष के अनुकरण का नाम अभिनय है। अवस्था यथा, रामाभिषेक, सीता-निर्वासन, द्रौपदी का केशभाराकर्षण इत्यादि।

अथ पात्र

जो लोग राम युधिष्ठिरादि का रूप धारण करके, कथित अवस्था

का अनुकरण करते हैं, उन लोगों को पात्र कहते हैं। नाटक के जो सब अंश स्त्रीगण कर्तृक प्रदर्शित होते हैं, उनमें भाव, हाव, हेला प्रभृति यौवन-सम्भूत अष्टाविंशति प्रकार के अलंकारों का उन लोगों को अभ्यास नहीं करना पड़ता किन्तु पुरुष लोगों को स्त्री-वेश धारण के समय अभ्यास द्वारा वह भाव दिखलाना पड़ता है।

अथ अभिनय प्रकार

अभिनय चार प्रकार का होता है यथा—आंगिकाभिनय, वाचिकाभिनय, आहार्याभिनय और सात्विकाभिनय।

अथ आंगिकाभिनय

केवल अंगभंगी द्वारा जो अभिनयकार्य साधन करते हैं, उसका नाम आंगिकाभिनय है। जैसे सती नाटक में नन्दी। सती ने शिव की निन्दा श्रवण करके देह त्याग किया। यह सुनकर महावीर नन्दी ने जब त्रिशूल हस्त में ले करके रंगस्थल में प्रवेश किया तब केवल आंगिकभाव द्वारा क्रोध दिखलाना चाहिये।

अथ वाचिकाभिनय

केवल वाक्य-विन्यास द्वारा जो अभिनय-कार्य समाहित होता है, उसका नाम वाचिकाभिनय है। यथा तोतले आदि का वेश।

अथ आहार्याभिनय

वेष भूषणादि निष्पाद्य का नाम आहार्याभिनय है। जैसा सत्य हरिश्चन्द्र में चोबदार वा मुसाहिब लोग जब राजा के साथ रंगस्थल में प्रवेश करते हैं तो इनको कुछ बात नहीं करनी पड़ती। केवल आहार्याभिनय के द्वारा आत्म-कार्य निष्पन्न करना होता है।

अथ सात्विकाभिनय

स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, कम्प और अश्रु प्रभृति द्वारा अवस्थानुकरण का नाम सात्विकाभिनय है। जैसा सती का मृत देह देखकर नन्दी का व्यवहार और अश्रुपात इत्यादि।

अथ वीभत्साभिनय

एक पात्र द्वारा जब कथित अभिनय में से दो वा तीन अथवा सब प्रदर्शित होते हैं तो उसको वीभत्साभिनय कहते हैं।

अथ अंगांगी भेद

नाटक में जो प्रधान नायक होता है उसको समस्त इतिवृत्त का अंगी कहते हैं। जैसे सत्यहरिश्चन्द्र में हरिश्चन्द्र।

अथ अंग

अंगी के कार्यसाधक पात्रगण अंग कहलाते हैं। जैसे वीरचरित में सुग्रीव, विभीषण, अंगद इत्यादि।

अथ वैषम्यपात दोष

नाटक में अंगी को अवनत करके अंग का प्राधान्य करने से वैषम्य-पात नामक दोष होता है।

अथ अङ्क लक्षण

नाटक के एक एक विभाग को एक एक अंक कहते हैं। अंक में वर्णित नायक-नायकादि पात्र का चरित्र और आचार-व्यवहारादि दिखलाया जाता है। अनावश्यक कार्य का उल्लेख नहीं रहता। अंक में अधिक पद्य का समावेश दूषणावह होता है।

अथ अङ्कावयव

नाटक का अवयव वृहत् होने से, एक रात्रि में अभिनय-कार्य समाहित नहीं होगा। इस हेतु दश अंक से अधिक नाटक निर्माण-विधि और युक्ति के विरुद्ध है। प्रथम अंक का अवयव जितना होगा, द्वितीयांक का अवयव तदपेक्षा न्यून होना चाहिये। ऐसे ही क्रम-क्रम से अंक का अवयव छोटा करके ग्रन्थ समाप्त करना चाहिये।

अथ विरोधक

नाटक में जिन विषयों का वर्णन निषिद्ध है, उनका नाम विरोधक है।

उदाहरण

दूराह्वान, अति विस्तृत युद्ध, राज्य देशादि का विप्लव, प्रबल वात्या, दंतच्छेद, नखच्छेद, अश्वादि वृहत्काय जन्तु का अति वेग से गमन, नौका-परिचालन और नदी में सन्तरण प्रभृति अघटनीय विषय।

अथ नायक निर्वाचन

विनय, शीलता, वदान्यता, दक्षता, स्निग्धता, शौर्य, प्रिय-भाषिता, लोकरंजकता, वाग्मिता प्रभृति गुणसमूह-सम्पन्न सद्वंशसम्भूत युवा को नायक होने का अधिकार है। नायक की भाँति नायिका में भी यथासम्भव वही गुण रहना आवश्यक है। प्रहसन आदि रूपकविशेष के नायकादि अन्य प्रकार के होते हैं।

अथ परिच्छद विवेक

नाटकान्तर्गत कौन पात्र कैसा परिच्छद पहरें यह ग्रन्थकार कर्त्तृक

उल्लिखित नहीं होता, न किसी प्राचीन नाटककार ने इसका उल्लेख किया है। नाटक में किसी किसी स्थान में उत्तम परिच्छद का परिवर्तन दिखलाई पड़ता है। जैसा सत्यहरिश्चन्द्र में "दरिद्र वेष से हरिश्चन्द्र का प्रवेश।"

ऐसी अवस्था भिन्न स्पष्ट रूप से परिच्छद का वर्णन किसी स्थान में उल्लिखित नहीं रहता, इससे अभिनय में वेशरचयिता पात्रगण का स्वभाव और अवस्था विचार करके वेशरचना कर दे। नेपथ्य कार्य सुन्दर रूप से निर्वाह के हेतु एक रसज्ञ वेषविधायक की आवश्यकता रहती है।

अथ देशकाल प्रवाह

अति दीर्घकाल सम्पाद्य घटना सकल नाटक में अल्पकाल के मध्य में वर्णन करना यद्यपि दूषणावह नहीं है तथापि नाटक में देशगत और कालगत वैलक्षण्य वर्णन करना अतिशय अनुचित है।

अथ विष्कम्भक

नाटक में विष्कम्भक रखने का तात्पर्य यह है कि नाटकीय वस्तु रचना में जो अश अत्यन्त नीरस और आडम्बरात्मक हैं उनके सन्निवेशित होने से सामाजिक लोगों को विरक्ति और अरुचि हो जाती है। नाटक-प्रणेतृगण इन घटनाओं को पात्र विशेष के मुख से संक्षेप में विनिर्गत कराते हैं।

अथ नाटकरचना-प्रणाली

नाटक लिखना आरम्भ करके, जो लोग उद्देश्य वस्तु परंपरा से चमत्कारजनक और अति मधुर वस्तु निर्व्वाचन करके भी स्वाभाविक सामग्री परिपोष के प्रति दृष्टिपात नहीं करते उनका नाटक नाटकादि

दृश्य काव्य लिखने का प्रयास व्यर्थ है क्योंकि नाटक आख्यायिका की भाँति श्रव्य काव्य नहीं है।

ग्रन्थकर्त्ता ऐसी चातुरी और नैपुण्य से पात्रगण की बातचीत रचना करै कि जिस पात्र का जो स्वभाव हो वैसी ही उसकी बात भी विरचित हो। नाटक में वाचाल पात्र की मितभाषिता, मितभाषी की वाचालता, मूर्ख का वाकपटुता और पण्डित का मौनीभाव विडम्बन मात्र है। (पात्र की बात सुनकर उसके स्वभाव का परिचय ही नाटक का प्रधान अंग है) नाटक में वाक्-प्रपंच एक प्रधान दोष है। रसविशेष द्वारा दर्शकों के अन्तःकरण को उन्नत अथवा एकबारगी शोकावनत करने को समधिक वागाडंबर करने से कभी उद्दृश्य सिद्ध नहीं होता। नाटक में वाचालता की अपेक्षा मितभाषिता के साथ, वाग्मिता का ही सम्यक् आदर होता है। नाटक में प्रपञ्च रूप से किसी भाव को व्यक्त करने का नाम गौण उपाय है और कौशल विशेष द्वारा थोड़ी बात में गुरुतर भाव व्यक्त करने का नाम मुख्योपाय है। थोड़ी सी बात में अधिक भाव की अवतारणा ही नाटक जीवन का महौषध है। जैसा उत्तररामचरित में महात्मा जनकजी आकर पूछते हैं—'कास्ते प्रजावत्सलो रामः' ? यहाँ प्रजावत्सल शब्द से महाराज जनक के हृदय के कितने विकार बोध होते हैं, केवल सहृदय ही इसका अनुभव करेंगे। चित्रकार्य के निमित्त जिन जिन उपकरणों का प्रयोजन और स्थान-विशेष की उच्चता-नीचता दिखलाने की जैसी आवश्यकता होती है वैसे ही वही उपकरण और उच्चता-नीचता प्रदानपूर्वक अति सुन्दर रूप से मनुष्य के बाह्य भाव और कार्यप्रणाली के चित्रण द्वारा सहज भाव से उनका मानसिक भाव और कार्यप्रणाली दिखलाना प्रशंसा का विषय है। जो इस भाँति दूसरे का अन्तरभाव व्यक्त करने को समर्थ हैं, उन्हीं को नाटककार सम्बोधन दिया जा सकता है और उन्हीं के प्रणीत ग्रन्थ नाटक

में परिगणित होते हैं।

नाटक में अन्तर का भाव कैसे चित्रित किया जाता है इसका एक अति आश्चर्य दृष्टान्त अभिज्ञान शाकुन्तल* से उद्धृत किया गया।

---

*इस प्रसिद्ध नाटक के मंगलाचरण का श्लोक "या स्रष्टुःसृष्टिराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री। ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्॥ यामाहुस्सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः। प्रत्यक्षाभिः प्रसन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः॥" बहुत प्रसिद्ध है और सब टीकाकारों ने इसके अनेक अर्थ किए हैं तथापि मुझे ऐसा निश्चित होता है कि कालिदास ने क्षिति इत्यादि शब्दों से श्री शिव जी का विराट स्वरूप वर्णन नहीं किया है क्योंकि उन मूर्त्तियों का 'प्रत्यक्षाभिः' यह विशेषण दिया है और लोग "या स्रष्टुःसृष्टिराद्या" इसका अर्थ आकाश करते हैं तो आकाश क्या अक्षि का विषय है? इससे मेरे ध्यान में आता है कि शिवजी की जो प्रत्यक्ष परम सुन्दरी मूर्त्ति है यह उसी का वर्णन है। जैसे:—

'या स्रष्टुःसृष्टिराद्या' अर्थात् जल 'शीर्षे च मन्दाकिनी' जिस मूर्ति में जल सब के ऊपर है।

'वहति विधिहुतं या हविः' अर्थात् अग्नि, 'वन्दे सूर्य्यशशाङ्कवह्निनयनं' जिस मूर्त्ति का एक मुख्य अंग अर्थात् नेत्र अग्नि है वा मुख वर्णन किया 'मुखो वै अग्निः, मुखादग्निः'।

'या च होत्री' अर्थात् यजमानस्वरूपा जो मूर्ति कर्म्ममार्ग स्थापन करने वाली है 'अभिवाद्यो महाकर्म्मा तपस्वी भूतभावनः' 'सर्व्वकर्म्मा' 'सर्व्वयज्ञकृत्' इत्यादि नाम प्रसिद्ध हैं, 'तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षं पुरुषं' इत्यादि की दो तीन ऋचा में यज्ञोत्पत्ति कही है।

'ये द्वे कालं विधत्तः' अर्थात् चन्द्रमा और सूर्य 'सूर्य्यशशाङ्कवह्निनयनं' जिसकी दो नेत्र स्वरूप मूर्तियाँ काल का विधान करती और हैं

शकुन्तला श्वशुरालय में गमन करेगी इस पर भगवान् कण्व जिस भाँति खेदप्रकाश करते हैं वह यह है ।

कण्व—(मन में चिन्ता करके)

आहा ! आज शकुन्तला पतिगृह में जायगी यह सोचकर हमारा हृदय कैसा उत्कण्ठित होता है, अन्तर में जो वाष्पभर का उच्छ्वास हुआ है उसमे वाग्जड़ता हो गई है, और दृष्टिशक्ति चिन्ता से जड़ीभूत हो रही है । हाय ! हम वनवासी तपस्वी हैं । सो जब हमारे हृदय में ऐसा वैक्लव्य होता है तो कन्या के वियोग के अभिनव दुःख में बेचारे गृहस्थों की क्या दशा होती होगी !

शिव के निमिष में प्रलयादिक होते हैं यह भी पुराण-प्रसिद्ध वा सूर्य्य नेत्र चन्द्रमा सिर पर वा मन स्वरूप 'चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोस्सूर्य्यो अजायत' ।

'श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वं' अर्थात् वाणीस्वरूपी मूर्ति, जिसकी वाणी वेद-स्वरूप विश्व को अपने नियम में व्याप्त करके स्थित है क्योंकि शिवजी वाणी के अधिदेवता 'वागीशः' 'अहं कलानां ऋषभोपि' 'विद्या कामस्तु गिरिशं' 'वाणी व्याकरणं यस्य' इत्यादि पुराण में प्रसिद्ध हैं वा वेदों का विषय होकर जो मूर्ति एक देशावच्छिन्ना होकर भी विश्व को व्याप्त करके स्थित है 'स भूमिं सर्व्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्' वा नाभि अंग का वर्णन किया है, 'यस्य नाभिर्वै आकाशः' 'नाभ्या आसीदंतरिक्षं' इत्यादि ।

'यामाहुः सर्व्वबीजप्रकृतिरिति' अर्थात् पृथ्वी, सो पृथ्वी को आप ने भस्म स्वरूप से सर्व्वांग में धारण किया है 'भस्मोद्धूलित सर्वाङ्गः' 'भस्मोद्धूलित विग्रहः' इत्यादि वा पृथ्वी, गङ्गा, शिर, नेत्र, मुख, नाभि इत्यादि अंगों को वर्णन करके चरण का वर्णन करते हैं जिसके चरण पृथ्वी स्वरूप हैं 'चरणे धरा पद्भ्याम्भूमिः' इत्यादि ।

सहृदय पाठक ! आप विवेचना करके देखिये कि इस स्थान में कविश्रेष्ठ कालिदास कुलपति कण्व ऋषि का रूप धारण करके ठीक उनका मानसिक भाव व्यक्त कर सके हैं कि नहीं ।

इसके बदले कालिदास यदि कण्व ऋषि का छाती पीटकर रोना वर्णन करते तो उनके ऋषि जनोचित धैर्य की क्या दुर्दशा होती अथवा कण्व का शकुन्तला के जाने पर शोक ही न वर्णन करते तो कण्व का स्वभाव मनुष्य-स्वभाव से कितना दूर जा पड़ता। इसी हेतु कविकुलमुकुट-माणिक्य भगवान् कालिदास ने ऋषि-जनोचित भाव ही में कण्व का शोक वर्णन किया ।

'यथा प्राणिनः प्राणवन्तः' अर्थात् आत्मा, तो इसमें मूर्ति ही में आत्मा का वर्णन इस हेतु किया जिसमें भगवान के देह में आत्मा अलग है यह सन्देह न हो क्योंकि 'यथा सेन्धवघनो' इत्यादि परमात्मा का स्वरूप है तो सब मूर्तियों का वर्णन करके व्यापकत्व और आत्मस्वरूपत्व कहा वा कानों का वर्णन मानों 'श्रोत्राद्वायुश्चप्राणश्च' वा आप प्राणायामस्थ हैं यह ध्यान किया है

तो इन आठों मूर्तियों से विशिष्ट प्रत्यक्ष शिवजी का वर्णन कालिदास ने किया, कुछ संसार स्वरूप भगवान् का वर्णन नहीं है क्योंकि अन्त में भी 'नीललोहितः' विशेषण दिया है और यों मानने से क्रम से शिर पर गङ्गा फिर मुख और उनके यज्ञादिक कर्म्म और चन्द्रचूड़ तथा च नेत्र फिर वाणी का वा नाभि का और भस्मधारण का तथा चरण का और फिर मुख स्वरूप आत्मा का क्रमशः वर्णन हो गया तो मेरी बुद्धि में आता है कि कालिदास का अभिप्राय भी यही होगा क्योंकि 'प्रत्यक्षाभिः' का दोष और नाटक के उपसंहार में सगुण शिव नीललोहित करके वर्णन इत्यादि का इस अर्थ में विरोध नहीं आता ।

नाटक रचना में शैथिल्य दोष कभी न होना चाहिये। नायक-नायिका द्वारा किसी कार्य विशेष की अवतारणा करके अपरिसमाप्त रखना अथवा अन्य व्यापार की अवतारणा करके उसका मूलच्छेद करना नाटक-रचना का उद्देश्य नहीं है। जिस नाटक की उत्तरोत्तर कार्य-प्रणाली संदर्शन करके दर्शक-लोग पूर्व पूर्व कार्य विस्मृत होते जाते हैं वह नाटक कभी प्रशंसा-भाजन नहीं हो सकता। जिन लोगों ने केवल उत्तम उत्तम वस्तु चुनकर एकत्र किया है उनकी गुम्फित वस्तु की अपेक्षा जो उत्कृष्ट, मध्यम और अधम तीनों का यथा-स्थान निर्वाचन करके प्रकृति की भावभंगी उत्तम रूप से चित्रित करने में समर्थ हैं वही काव्यामोदी रसज्ञ-मण्डली को अपूर्व आनन्द वितरण कर सकते हैं। कालिदास, भवभूति और शेक्सपियर प्रभृति नाटककार इसी हेतु पृथ्वी में अमर हो रहे हैं। कोई सामग्री संग्रह नहीं है, अथच नाटक लिखना होगा यह अलीक सकल्प करके जो लोग नाटक लिखने को लेखनी धारण करते हैं उनका परिश्रम व्यर्थ हो जाता है। यदि किसी को नाटक लिखने की वासना हो तो नाटक किसको कहते हैं इसका तात्पर्य हृदयंगम करके, नाटक-रचयिता को सूक्ष्म-रूप से ओतप्रोत भाव में मनुष्य की प्रकृति आलोचना करनी चाहिये। जो अनालोचित-मानव-प्रकृति हैं उनके द्वारा मानवजाति के अन्तर्भाव सब विशुद्धरूप से चित्रित होंगे, यह कभी सम्भव नहीं है। इसी कारण से कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल और शेक्सपियर के मैकबेथ और हेमलेट इतने विख्यात हो के पृथ्वी के सर्व स्थान में एकादर से परिभ्रमण करते हैं। मानव प्रकृति की समालोचना करनी हो तो नाना देशों में भ्रमण करके नाना प्रकार के लोगों के साथ कुछ दिन वास करे; तथा नाना प्रकार के समाज में गमन करके विविध लोगों का आलाप सुने तथा नाना प्रकार के ग्रन्थ अध्ययन करे; वरंच समय में अश्वरक्षक, गोरक्षक, दास, दासी,

ग्रामीण, दस्यु प्रभृति नीच प्रकृति और सामान्य लोगों के साथ कथोपकथन करे। यह न करने से मानवप्रकृति समालोचित नहीं होती। मनुष्यों की मानसिक वृत्ति परस्पर जिस प्रकार अदृश्य है उन लोगों के हृदयस्थभाव भी उसी रूप अप्रत्यक्ष हैं। केवल बुद्धि-वृत्ति की परिचालना द्वारा तथा जगत् के कतिपय बाह्य कार्यों पर सूक्ष्म दृष्टि रखकर उसके अनुशीलन में प्रवृत्त होना होता है। और किसी उपकरण द्वारा नाटक लिखना झख मारना है।

राजनीति, धर्म्मनीति, आन्वीक्षिकी, दंडनीति, सन्धि, विग्रह प्रभृति राजगुण; मन्त्रणा, चातुरी, आद्य. करुणा प्रभृति रस, विभाव, अनुभाव, व्यभिचार भाव, तथा सात्विक भाव तथा व्यय, वृद्धि, स्थान प्रभृति त्रिवर्ग की समालोचना में सम्यक् रूप समर्थ हो तब नाटक लिखने को लेखनी धारण करे।

स्वदेशीय तथा भिन्न देशीय सामाजिक रीति, व्यावहारिक रीति पद्धति का निदान फल और परिणाम इन तीनों का विशिष्ट अनुसन्धान, नाटक-रचना का उत्कृष्ट उपाय है।

वेश और वाणी दोनों ही पात्र की योग्यतानुसार होनी चाहिएँ। यदि भृत्यपात्र प्रवेश करे तो जैसे बहुमूल्य परिच्छद उसके हेतु अस्वाभाविक है वैसे ही पण्डितों के संभाषण की भाँति विशेष संस्कृत-गर्भित भाषा भी उसके लिये अस्वाभाविकी है। महामुनि भरताचार्य पात्र-स्वभावानुकूल भाषण रखने का वर्णन अत्यन्त सविस्तर कर गये हैं। यद्यपि उनके नांदी रचनादि विषय के नियम हिन्दी में प्रयोजनीय नहीं किन्तु पात्र-स्वभाव-विषयक नियम तो सर्वथा शिरोधार्य हैं।

नाटक पठन वा दर्शन में स्वभाव-रक्षा मात्र एक उपाय है जो पाठक और दर्शकों के मनः समुद्र को भाव-तरंगों से आस्फालित कर देता है।

अथ विदूषक

नाटकदर्शकगण विदूषक के नाम से अपरिचित नहीं हैं किन्तु विदूषक का प्रवेश किस स्थान में योग्य है इसका विचार लोग नहीं करते। बहुत से नाटक लेखकों का सिद्धांत है कि अथ इति की भाँति विदूषक की नाटक में सहज आवश्यकता है किन्तु यह एक भ्रम मात्र है। वीर वा करुणरस प्रधान नाटक में विदूषक का प्रयोजन नहीं रहता। शृङ्गार की पुष्टि के हेतु विदूषक का प्रयोजन होता है, सो भी सब स्थलों में नहीं, क्योंकि किसी-किसी अवसर पर विदूषक के बदले विट, चेट, पीठमर्द, नर्मसखा प्रभृति का प्रवेश विशेष स्वाभाविक होता है। प्राचीन शास्त्रों के अनुसार कुसुमवसंतादिक नामधारी, नाटा, मोटा, वामन, कुबड़ा, टेढ़े अंग का वा और किसी विचित्र आकृति का, किंवा हकला, तोतला, भोजनप्रिय, मूर्ख, असंगत, किन्तु हास्य रस के अविरुद्ध बात कहने वाला विदूषक होना चाहिए और उसका परिच्छद भी ऐसा हो जो हास्य का उद्दीपक हो।

संयोग शृङ्गार वर्णन में इसकी स्थिति विशेष स्वाभाविकी होती है।

अथ रस वर्णन

शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, अद्भुत, वीभत्स, शांत, (भक्ति वा दास्य) (प्रेम वा माधुर्य,) सख्य, वात्सल्य, (प्रमोद वा आनन्द।)

शृङ्गार, संयोग और वियोग दो प्रकार का। यथा शकुन्तला के पहले और दूसरे अंक में संयोग, पाँचवें छठें अंक में वियोग।

हास्य, यथा भाण और प्रहसनों में।

करुण, यथा सत्यहरिश्चन्द्र में शैव्या के विलाप में। रौद्र, यथा धनंजयविजय में युद्धभूमि-वर्णन।

वीर रस ४ प्रकार। यथा दानवीर, सत्यवीर, युद्धवीर और उद्योग-वीर। दानवीर, यथा सत्यहरिश्चन्द्र में 'जेहि पाली इक्ष्वाकु सो' इत्यादि। सत्यवीर, यथा सत्यहरिश्चन्द्र में 'बेचि देह दारा सुअन' इत्यादि, युद्धवीर यथा नील-देवो। उद्योगवीर* मुद्राराक्षस। भयानक, अद्भुत और वीभत्स, यथा सत्यहरिश्चन्द्र में स्मशानवर्णन।

शांत यथा प्रबोध-चन्द्रोदय में, भक्ति यथा संस्कृत चैतन्य-चन्द्रोदय में, प्रेम यथा चद्रावली में। वात्सल्य और प्रमोद के उदाहरण नहीं हैं।

अथ रसविरोध

नाटकरचना में विरोधी रसों को बहुत बचाना चाहिए। जैसे शृङ्गार के हास्य वीर विरोधी नहीं किन्तु अति करुण वीभत्स रौद्र भयानक और शान्त विरोधी हैं, तो जिस नाटक में शृङ्गाररस प्रधान अंगीभाव से हो उसमें ये न आने चाहिएँ। अति करुण लिखने का तात्पर्य यह है कि सामान्य करुण तो वियोग में भी वर्णित होगा किन्तु पुत्रशोकादि वतू अति करुण का वर्णन शृङ्गार का विरोधी है। हाँ नवीन (ट्रैजेडी) वियोगान्त नाटक-लेखक तो यह रस-विरोध करने को बाधित हैं। नाटकों की सौन्दर्य्यरक्षा के हेतु विरोधी रसों को बचाना भी बहुत आवश्यक कार्य है, अन्यथा होने से कवि का मुख्य उद्देश्य नाश हो जाता है।

अथ अन्य स्फुट विषय

नाटक-रचना के हेतु पूर्वोक्त कथित विषयों के अतिरिक्त कुछ नायिका भेद और कुछ अलंकार-शास्त्र जानने की भी आवश्यकता होती है। ये विषय रसरत्नाकर, भारतीभूषण, लालित्यलता आदि ग्रन्थों में विस्तार रूप से वर्णित हैं।

---

*मुद्राराक्षस में मुख्य अंगीभाव से कोई रस न पाकर मुझको उद्योग-वीर की कल्पना करनी पड़ी।

आजकल की सभ्यता के अनुसार नाटकरचना में उद्देश्यफल उत्तम निकलना बहुत आवश्यक है। यह न होने से सभ्यशिष्टगण ग्रन्थ का तादृश आदर नहीं करते, अर्थात् नाटक पढ़ने वा देखने से कोई शिक्षा मिले, जैसे सत्यहरिश्चन्द्र देखने से आर्य जाति की सत्य प्रतिज्ञा, नीलदेवी से देशस्नेह इत्यादि शिक्षा निकलती हैं। इस मर्यादा की रक्षा के हेतु वर्त्तमान समय में स्वकीया नायिका तथा उत्तम गुण विशिष्ट नायक को अवलम्बन करके नाटक लिखना योग्य है। यदि इसके विरुद्ध नायिका-नायक के चरित्र हों तो उसका परिणाम बुरा दिखलाना चाहिए। यथा नहुष नाटक में इन्द्राणी पर आसक्त होने से नहुष का नाश दिखलाया गया है, अर्थात् चाहे उत्तम नायिका-नायक के चरित्र की समाप्ति सुखमय दिखलाई जाय किंवा दुश्चरित्र पात्रों के चरित्र की समाप्ति कंटकमय दिखलाई जाय। नाटक के परिणाम से दर्शक और पाठक कोई उत्तम शिक्षा अवश्य पावें।

अथ अभिनय विषयक अन्यान्य स्फुट नियम

नाटक की कथा—नाटक की कथा की रचना ऐसी विचित्र और पूर्वापर-बद्ध होनी चाहिए कि जब तक अन्तिम अंक न पढ़े किंवा न देखे, यह न प्रगट हो कि खेल कैसे समाप्त होगा। यह नहीं कि 'सीधा एक को बेटा हुआ, उसने यह किया वह किया' प्रारम्भ ही में कहानी का मध्य बोध हो।

पात्रों के स्वर—शोक, हर्ष, हास, क्रोधादि के समय में पात्रों को स्वर भी घटाना-बढ़ाना उचित है। जैसे स्वाभाविक स्वर बदलते हैं, वैसे ही कृत्रिम भी बदलें। 'आप ही आप' ऐसे स्वर में कहना चाहिए कि बोध हो कि धीरे-धीरे कहता है, किन्तु तब भी इतना उच्च हो, कि श्रोतागण निष्कंटक सुन लें।

पात्रों की दृष्टि—यद्यपि परस्पर वार्त्ता करने में पात्रों की दृष्टि

परस्पर रहेगी किन्तु बहुत से विषय पात्रों को दर्शकों की ओर देखकर कहने पड़ेंगे। इस अवसर पर अभिनय-चातुर्य यह है कि यद्यपि पात्र दर्शकों की ओर देखें किन्तु यह न बोध हो कि वह बातें वे दर्शकों से कहते हैं।

पात्रों के भाव—नृत्य की भाँति रंगस्थल पर पात्रों को हस्तक भाव वा मुख, नेत्र, भ्रू के सूक्ष्मतर भाव दिखलाने की आवश्यकता नहीं, स्वर भाव और यथायोग्य स्थान पर अंगभंगी भाव ही दिखलाने चाहिएँ।

पात्रों का फिरना—एक यह साधारण नियम भी माननीय है कि फिरने वा जाने के समय जहाँ तक हो सके पात्रगण अपनी पीठ दर्शकों को बहुत कम दिखलावें। किन्तु इस नियम-पालन का इतना आग्रह न करें कि जहाँ पीठ दिखलाने की आवश्यकता हो वहाँ भी न दिखलावें।

पात्रों का परस्पर कथोपकथन—पात्रगण आपस में जो वार्त्ता करें उसको कवि निरे काव्य की भाँति न ग्रथित करे। यथा नायिका से नायक साधारण काव्य की भाँति 'तुम्हारे नेत्र कमल हैं, कुच कलश हैं, इत्यादि न कहें। परस्पर वार्ता में हृदय के भावबोधक वाक्य ही कहने योग्य हैं। किसी मनुष्य वा स्थानादि के वर्णन में लम्बी-चौड़ी काव्यरचना नाटक के उपयोगी नहीं होती।

अथ नाटकों का इतिहास

यदि कोई हमसे यह प्रश्न करे कि सबके पहिले किस देश में नाटकों का प्रचार हुआ तो हम क्षणमात्र का भी विलम्ब किये बिना मुक्त कंठ से कह देंगे 'भारतवर्ष में'। इसका प्रमाण यह है कि जिस देश में संगीत और साहित्य प्रथम परिपक्व हुए होंगे वहीं प्रथम नाटक का भी प्रचार हुआ होगा। हम नहीं समझ सकते कि पृथ्वी की और कोई जाति भी भारतवर्ष के सामने इस विषय में मुंह खोले। आर्यों

का परम शास्त्र वेद संगीत और साहित्यमय है। और जाति में संगीत और साहित्य प्रमोद के हेतु होते हैं किन्तु हमारे पूज्य आर्य महर्षियों ने इन्हीं शास्त्रों द्वारा आनन्द में निमग्न होकर परमेश्वर की उपासना की है। यहाँ तक कि हमारे तीसरे वेद साम की संज्ञा ही गान है। और किसके यहाँ धर्म संगीत-साहित्यमय है ? हमारे यहाँ लिखा है—

वीणावादनतत्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं प्रयच्छति ॥ १ ॥
काव्यालापाश्च ये केचित् गीतिकान्यखिलानि च।
शब्दरूपधरस्यैते विष्णोरंशा महात्मनः ॥ २ ॥

तो जब हमारे धर्म के मूल ही में संगीत और साहित्य मिले हैं, तब इसमें क्या सन्देह है कि इस रस के प्रथमाधिकारी आर्यगण ही हैं। इसके अतिरिक्त नाटकरचना में रंग नट इत्यादि जो शब्द प्रयुक्त होते हैं वे सब प्राचीन काव्य, कोष, व्याकरण और धर्मशास्त्रों में पाए जाते हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि नाटकरचना हमारे आर्यगणों को पूर्व काल ही से विदित है।

सर्वदा नट लोगों के ही द्वारा ये नाटक नहीं अभिनीत होते थे, आर्य राजकुमार और कुमारीगण भी इसको सीखते थे। महाभारत के खिल हरिवंश पर्व के विष्णु पर्व के ९३ अध्याय में प्रद्युम्न साम्बादि यादव राजकुमारों का वज्रनाभ के पुर में जाना और वहाँ नट बनकर (कौवेररम्भाभिसार) नाटक खेलना बहुत स्पष्ट रूप से वर्णित है। वहाँ लिखा है कि जब प्रद्युम्न आदिक वीर वज्रनाभ के पुर में गये तब भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने कुमारों को नाटक करने की आज्ञा देकर भेजा था। प्रद्युम्न सूत्रधार थे, साम्ब विदूषक थे, और गद पारिपार्श्विक थे। यहाँ तक कि स्त्रियाँ भी गाने-बजाने का साज लेकर साथ गई थीं। पहले दिन इन लोगों ने राम-जन्म नाटक किया जिसमें लोमपाद राजा की आज्ञा से गणिकाओं का

शृङ्गी ऋषि को ठग कर लाना बहुत अच्छी रीति से दिखलाया गया था। दूसरे दिन फिर रम्भाभिसार नाटक किया (क)। इसमें पहिले इन लोगों ने नेपथ्य बाँधा (ख) फिर स्त्रियों ने भीतर से बड़े सुन्दर स्वर से गान किया (ग)। पीछे गंगाजी के वर्णन में प्रद्युम्न, गद और साम्ब ने मिलकर नान्दी गाई (घ) और तदनन्तर प्रद्युम्न जी ने विनय के श्लोक पढ़कर सभा को प्रसन्न किया (ङ) और तब नाटक आरम्भ हुआ। इसमें शूर नामक यादव रावण बना, मनोवती नाम्नी स्त्री रम्भा (च), प्रद्युम्न नल-कूबर और साम्ब विदूषक। इसी प्रकरण से यह बात सिद्ध होती है कि केवल नट ही नहीं, प्राचीन काल से आर्यकुल में बड़े बड़े लोग भी इस विद्या को भली भाँति जानते थे (छ)।

(क) 'भैमापि बद्धनेपथ्या नटवेषधरात्मजा। कार्यार्थं भीमकर्माणो नृत्यार्थमुपचक्रमुः॥ इत्यादि २१ श्लोक से ३२ तक।

(ख) अर्थात् बिना नेपथ्य के महाराष्ट्रों की भाँति शतरंजी और मशालची के भरोसे नाटक नहीं खेला।

(ग) इससे विदित हुआ कि बाह्यपटी उठने के पहले गान होना भी प्राचीन रीति है।

(घ) नांदी विषयक दृढ़ नियम उसी काल से प्रचलित है।

(ङ) विनय के श्लोक पढ़े अर्थात् प्रस्तावना हुई।

(च) इससे एक बात यह बहुत बड़ी प्रमाणित हुई कि प्राचीन काल में स्त्री का वेष स्त्री लेती थीं।

(छ) अबके लोगों को नाटक के अनुशीलन वा अनुकरण करने में उत्साह नहीं होता, वरन् इसको तुच्छ और बुरा समझ के इससे दूर भागते हैं और नाटक करने वाले चतुरों को लोग साधारण डोम

मध्य समय के नाटक

मध्य समय के नाटककारों में कविकुलगुरु भगवान् कालिदास*

बजाने वाले नट जानकर इस काम में अपनी घृणा प्रकाश करते हैं। परन्तु बड़े शोक की बात है कि जो सब से अच्छी वस्तु है और जिसके करने वाले महा सभ्यता के निकेतन हैं इन्हीं दोनों बातों में देश के कुसंस्कार से लोगों को अरुचि हो गई। नाटकों का अभिनय करना सहृदय जनों के समाज को कितनी प्रीति देनेवाला, देश की कुचालों का सुधारनेवाला और कैसा कुशल करने वाला है इसका सब गुण उन नाटकों को देखने ही से उनपर प्रगट हो जायगा और इसी भाँति प्रतिकूलता के बन्धन से छूटकर अनुकूलता भूषण से भूषित होकर नाटक दर्शन रूपी अलौकिक कुसुम-कानन में घूमने फिरने से अनिर्वचनीय आनन्द पावेंगे और उसके काश्मीर के वायु के ठंढे और सुगन्धित झकोरों से उनके जी की कली खिल जायगी। नाटकों के अभिनय करने में जो स्वच्छन्दता होती है उसे छोड़कर उससे देश का कितना उपकार होता है कि हम लिख नहीं सकते। देखिये कि यदि एक बड़ा राजा वा कोई धनी अथवा कोई पण्डित किसी बुरे काम में प्रवृत्त होय तो उसको हम लोग सभा में कभी शिक्षा न दे सकेंगे और जो कुसंस्कार की दावाग्नि बहुत काल से प्रगट होकर हम लोगों के मंगलमय सभ्यता वन को जला रही है उस महादावाग्नि को हम लोग दोष कथन वारि से घर बैठे बुझाना चाहेंगे तो कभी न बुझेगी। इसमें अब हम लोगों को कुशलता के उद्योग बीजों को अवश्य बोना चाहिये और वह किसी एक मनुष्य के प्रयत्न से अभी अंकुरित न होगी

---

*पुरा कवीनां गणनाप्रसंगे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासः। अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावात् अनामिका सार्थवती बभूव ॥ १ ॥

मुख्यतम हैं। भवभूति † और धावक दूसरी श्रेणी में हैं। राज-

परन्तु यदि नाटकों के अभिनय का आरम्भ हो जायगा तो यह सब कुचाल आपसे आप छूट जायगी और इसी भाँति फिर सब लोग अच्छी बातों से रुष्ट न होकर उसके प्रचार में प्रयत्न करेंगे।

जैसे वेश्याऽऽसक्त पुरुषों का वेष धारण करने वाले नटों से वेश्याऽऽसक्त पुरुषों को घृणा होगी और कुजटात्व दोष निवारण के हेतु कुजटा वेष धारी नट के आने से उसका दुर्दशा का दिखाना, मद्यपों के वेष से मद्यपों को बुरी अवस्था का अनुभव कराना, इसी भाँति जुवारी झूठ बोलने वाले, ऋणी, अपने बन्धुओं से विरोध करनेवाले, वृथा आचरण करनेवाले, वृथा व्यय करनेवाले, कर्कश बोलने वाले और मूर्खों के वेष और सम्भाषण से इनकी दुर्दशा दिखाने से अनायास ही पूर्वोक्त दुर्दशावाले मनुष्य सभा में बातों ही के चोट से चैतन्य हो जाएँगे और इस रस-रूपी उपदेश से सावधान होकर बुरी बातों से बचेंगे। और जो नाटक करना कोई बुरी बात होती तो सभ्यशिरोमणि विद्यासागर अँगरेज़ लोग इसके होने में क्यों प्रयत्न करते और बड़ी बड़ी रंगशालाओं में नित्य-नित्य बड़े-बड़े अधिकारी लोग क्यों वेष धारण करके नाटकाभिनय करते? जो कहो कि यह नाटक भरत-खण्ड के हेतु एक नई बात है सो नहीं, देखिए पूर्व काल में भगवान् श्री-कृष्णचन्द्र ने अपने पुत्र साम्ब और श्रीप्रद्युम्न को और अपने छोटे भाई गद को एक बड़े समाज के साथ नाटक करने की आज्ञा दी थी और उन लोगों ने रामाभिनय नाटक किया था और इसी भाँति से भरतखंड-भूषण श्रीमहाराज विक्रमादित्य और महाराज भोज के समय इसका सम्पूर्ण रूप से प्रचार था। इसमें विशेष प्रमाण का कुछ काम नहीं है, उस समय

---

†भवभूतेः सम्बन्धात् भूधरभूरेव भारती भाति। एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति श्रावा॥ १॥

शेखर, जयदेव, भट्टनारायण, दंडी§ इत्यादि तीसरी श्रेणी में हैं। अब जितने नाटक प्रसिद्ध हैं उनमें मृच्छकटिक सब से प्राचीन है। इसके पीछे शकुन्तला और विक्रमोर्वशी बने हैं। यहाँ पर एक बड़ी प्रसिद्ध बात का विचार करना है: प्रायः सभी प्राचीन इतिहास लेखकों ने लिखा है कि श्रीहर्ष कालिदास के पूर्व हुआ, क्योंकि मालविकाग्नि-मित्र में कालिदास ने धावक का नाम लिया है, किन्तु राजतरङ्गिणी

के शकुन्तला और रत्नावली इत्यादि नाटक अब भी प्रमाण आदर्शरूप से वर्तमान हैं और पढ़नेवालों को अपूर्व आनन्द देते हैं। अहा! हे नाटक-विरोधी मानवगण! आप लोग इस चमत्कार्य कार्य में क्यों उत्साह नहीं बढ़ाते और इस आनन्दमय रस-समुद्र में क्यों नहीं स्नान करते? इस हेतु अब यही हमारी प्रार्थना है कि आप लोग इस बातको सुनकर कान में रुई देके न बैठें जहाँ तक हो सके इसकी उन्नति में प्रयत्न करें जिससे हमारे इस देशवासियों का उपकार हो।

---

§जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाऽभवत्। कवि इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दंडिनि ॥ १ ॥

प्रसिद्ध कवि कालिदास और दंडी की स्पर्द्धिनी दो स्त्रियाँ भी कवि हुई थीं। यथा—'नीलोत्पलदलश्यामां विज्जिकां मामजानता। वृथैव दंडिना प्रोक्तं सर्वशुक्ला सरस्वती ॥' तथा 'सरस्वतीव कर्णाटी विजयांका जयत्यसौ। या वैदर्भगिरां वासः कालिदासादनन्तरम्' ॥ १ ॥

भास नामक कोई कवि नाटककार हुआ है, किन्तु उसका नाटक प्रसिद्ध नहीं है। 'सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः। सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव' ॥ १ ॥ 'भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः' ॥ १ ॥

में हर्ष नामक जो राजा हुआ है वह विक्रमादित्य* के कई सौ वर्ष पीछे हुआ है। अनन्त देव नामक राजा भोज के समय में था। अनंत का पुत्र कलस हुआ जिसने आठ बरस राज्य किया। इसका पुत्र

---

* विक्रमादित्य के समय में इतिहासों के देखने से अत्यन्त गोलमाल मालूम होता है। परन्तु जिस विक्रमादित्य का सम्बत् चलाया है वह १६ सौ से ऊपर हुए यह ठीक है परन्तु राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द (३) ने अपने इतिहास तिमिरनाशक तीसरे खंड में यों लिखा है:—

"यहाँ तक कि सन् ईस्वी से ५७ बरस पहले विक्रम उज्जैन के शैव राजा ने दिल्ली फ़तह करके अपना अमल कश्मीर तक पहुँचाया और बौद्धमत का बड़ा धक्का लगाया। ब्राह्मणों ने फिर बल पाया। इसने पण्डितों का नवरत्न बनाया कालिदास सबका शिरोमणि था। उसी के समय में कुमारसंभव ग्रन्थ बना। मृच्छकटिक नाटक भी सन् ईस्वी के आरम्भ ही में रचा गया, उससे उस समय का हाल बहुत मालूम होता है। उसमें बसंत नाम एक वेश्या के मकान की तारीफ़ लिखी है—चौखठ रँगी हुई, झाड़ू दी हुई, पानी छिड़का हुआ, बंदनवार बँधी हुई, बाजाख़ाना बलंद, पीले झंडे, गमलों में आम के पौधे, पहले चौक में वेदपाठी ब्राह्मणों की तरह दर्बान ऊँघते, कव्वे दही भात खाकर यज्ञ के बचे हुए खाने से बेपर्वा, दूसरे चौक में अस्तबल—उसमें रथ के बैल, लड़ाई के मेढ़े और बन्दर बँधे हुए हाथी भात और घी के गोले खाते हुए, तीसरे चौक में जवान जूआ खेलते हुए, चौथे चौक में नाच गाना नाटक बाजा, पाँचवें चौक में रसोई तेल और हींग की बू से महकी हुई जानवरों की खालें धोई जाती हैं। मिठाई और पकवान बन रहे हैं, छठें चौक में दर्बाज़ा मिहराबदार जौहरी सुनार पटवे गहने बना रहे

हर्ष था जिसने कई दिन मात्र राज्य किया था। कनिंगहम के मत से हर्ष सन् १०८८ ई० में और विल्सन के मत से १०५४ ई०

हैं। हक्काक अपना काम कर रहे हैं। कोई केसर के थैले सुखला रहा है, कोई मुश्कनाफ़े हिलाता है, कोई चन्दन का इतर निकाल रहा है, कोई और और खुशबू की चीज़ें बना रहा है। सातवें चौक में चिड़ियाख़ाना— कबूतर, तोते, मैना, कोयल, मौजूद; आठवें चौक में उस वेश्या का भाई रेशमी कपड़े पहने गहनों से चमचमाता हुआ लोट पोट कर रहा है, मानों उसके हड्डी के जोड़ ही उखड़ गये हैं और उसकी माँ जामदानी का कपड़ा पहने तेल से चमकते हुए पैरों में जूता ऐसी मोटी कि शायद वहाँ उसे बैठा कर उस मकान की दीवार बनायी थी। बाग़ में बसन्त टहल रही थी। उसकी सवारी के रथ पर पर्दे पड़े हुए थे। चारुदत्त ब्राह्मण इस वेश्या का यार था। चोरी करना भी विद्या में गिना जाता था। एक ब्राह्मण चोर दीवार में जनेऊ से नाप कर शास्त्र के बमूजिब स्वस्तिक और घड़े की शकल पर सेंध लगा रहा है, राजा वेश्या के पीछे बाज़ार में दौड़ता है, उसे घायल करता है। एक बौद्ध भिक्षुक बचाता है। आर्यक अहीर जिसकी आँखें ताँबे के रंग की लिखी हैं राजा को मार कर उज्जैन की गद्दी पर आप बैठता है। जो हो इसमें संदेह नहीं कि विक्रम के समय में शक (शक लोग नाग की पूजा करते थे और नाग ही उनका चिह्न था। कौन जाने यही यहाँ नागवंशियों को जड़ हुए हों। रामगढ़ सिरगुजा के नागवंशी राजा अब तक अपनी मुहर में नाग का चिह्न खुदवाते हैं। यूनान का पुराना इतिहासवेत्ता हेरोदोतस लिखता है कि शक लोग अपने तईं एक ऐसी स्त्री की औलाद बतलाते थे जिसका नीचे का धड़ साँप का था इसीसे शायद इस देश वालों को नागकन्या का ख़याल बँधा) हूण जट (Jits, Getes, Geæ, Gæti तैमूर के समय तक यह तातार में वहाँ की एक क़ौम गिनी जाती थी) इत्यादि तातारी

में हुआ था। यद्यपि राजतरंगिणीकार ने हर्ष को कवि लिखा है और विहण और बिल्लण कवि भी इसके समय में लिखे हैं किन्तु धावक का

क़ौमों ने इस देश पर भारी चढ़ाई की थी और विक्रम ने उनसे अच्छी लड़ाई जीती, बरन् इसीलिये वह शकारी कहलाया। विक्रम नाम के इतने (आठ से अधिक) राजा हुए हैं कि उनके इतिहास मिलजुल जाने के कारण बहुत गड़बड़ हो गये हैं यहाँ तक कि अकसर साहिब लोग संवत् को विक्रम का चलाया नहीं मानते हैं क्योंकि उस समय उज्जैन में किसी बड़े महाराजाधिराज विक्रम का कहीं कुछ पक्का पता नहीं मिलता। एक बड़ा विक्रम सन् ५०० और ६०० ईस्वी के बीच में महाराजाधिराज हुआ। मातृगुप्त को भेज के कश्मीर फ़तह किया। वहाँ का राजा तोरमान क़ैद हो गया, लेकिन विक्रम के मरने पर और मातृगुप्त के काशीवास करने को चले आने पर तोरमान के बेटे प्रवरसेन ने कश्मीर से निकल कर विक्रम के बेटे शिलादित्य को क़ैद कर लिया और जिस तरह नादिरशाह दिल्ली से तख़्ततावस ले गया था विक्रम का बत्तीस पुतलियों वाला सिंहासन उठा ले गया। एक साहिब ऐसा भी अनुमान करते हैं कि यहाँ संवत् गुप्तों के राज से चला था बीच में लुप्त हो गया था फिर किसी गुप्त विक्रम ने जारी किया, इसीसे विक्रम का कहलाया। कौन जाने यही बड़ा विक्रम दूसरा चन्द्रगुप्त विक्रम रहा हो। बराहमिहिर का समय सन् ५८७ ईस्वी ठीक निश्चय हो गया है। वह इसी विक्रम के समय में हुआ जिसने सन् ५०० और ६०० के बीच में राज किया और कोशकर्त्ता अमरसिंह और कालिदास कवि भी बराहमिहिर के साथ इसी विक्रम की सभा के रत्न थे। एक पंडित मातृगुप्त ही को कालिदास ठहराते हैं लेकिन सन् ईस्वी से कोई २६ बरस पहले यहाँ सिंध, मालवा इत्यादि देशों में तातारियों का राज्य हो गया था। इनके सिक्कों से जो मिलते हैं, मालूम होता है कि वह आग पूजते थे क्योंकि

नाम तथा रत्नावली इत्यादि के बनने का प्रसंग कोई नहीं लिखा। राजतरंगिणीकार के मत से हर्ष के समय अत्यन्त उपद्रव रहा; और

उनके देवता अर्देथ्रो (Ardethro) अर्थात् अग्निदेव की जो उनपर तसवीर है उसके कंधों से अग्नि की शिखा निकल रही है और फिर पिछले सिक्कों पर शिव की मूर्ति भी त्रिशूल हाथ में लिए नन्दी के सहारे से खड़ी है, परन्तु आँख और शिर में अग्नि की शिखा प्रज्वलित, दूसरी ओर उन्हीं सिक्कों पर हलिओस (Helios) अर्थात् हरिः अर्थात् सूरज माओ (Mao) अर्थात् माह अर्थात् चाँद और नानाइआ (Nanaia) अर्थात् नानदेवी खुदा हुआ है, इसी नानदेवी को अब अफ़ग़ानिस्तान वाले बीबी नानी कहते हैं और याज्ञवल्क्य स्मृति में इन्हीं सिक्कों को नानक वा नाणक (इस दलील से यह ग्रन्थ विक्रम से पीछे बना मालूम होता है) लिखा है। कनकी राजा का जो सिक्का मिला है उसपर बुद्ध की मूर्ति है लेकिन अग्नि की शिखा के साथ यह वही राजा है जिसे बौद्ध और ब्राह्मणों ने कनिष्क (पिशावर के पास मनिकयाला का स्तूप इसी कनिष्क का बनवाया है। सन् ईस्वी से १३ बरस पहले के रूमी सिक्के उसमें से निकले हैं) लिखा है। राजतरंगिणी में लिखा है कि कश्मीर में तीन राजा तुरुष्क अर्थात् तुर्क वंश के हुए और लंका के इतिहास वाले लिखते हैं कि इन तीनों का नाम हुष्क, जुष्क और कनिष्क था। नगर, विहार स्तूप और विद्यालय बनाये, बौद्धमत को रौनक़ दी। नागार्जुन तांत्रिक योगी जिसका नाम नागसेन भी लिखा है और विदर्भ में जनमा था उनका गुरु था। नागार्जुन के चेले माध्यमिक कहलाये। इसने कश्मीर में बौद्धों का चौथा संघ अर्थात् समाज किया। तातार से ले के यवद्वीप (Java) तक बुद्ध का मत फैलाया। चीन वाले इन राजाओं को ऐसा ज़बर्दस्त लिखते हैं कि उन्होंने ओज में चीन से शाहज़ादे मँगाये थे। जाड़े में हिन्दुस्तान में, बहार में कंधार में और

चारों ओर राजकुमार तथा उच्च कुल के लोगों के रुधिर की नदी बहती थी। हर्ष श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती की भाँति मूर्तिपूजा के भी विरुद्ध था, इसी हेतु प्रजा उसको तुरुष्क पुकारती थी। इन बातों से स्पष्ट प्रमाणित होता है कि या तो धावकवाला श्रीहर्ष दूसरा है, कश्मीर का नहीं या मालविकाग्निमित्रकार कालिदास वह जगत्प्रसिद्ध शकुन्तला का कालिदास नहीं। दूसरी बात विशेष

गर्मी में क़ाबुल के उत्तर कोहिस्तान में रहते थे। निदान इन तुरुष्कवंशी राजाओं ने बौद्ध, शैव और अग्नि-पूजन को खूब मिलाया; मानों तीनों को एक मत कर डाला। गुप्तराजा—लेकिन सन् १४४ ईस्वी से अर्थात् बौद्ध राजा मेघवाहन के मरने से बौद्धों का असली ज़ोर घटने और ब्राह्मणों का बढ़ने लगा था। जब फ़ाहियान आया, गुप्तवंशी दूसरा चन्द्र-गुप्त विक्रम सारे भारतवर्ष का महाराजाधिराज था। यह शायद आख़िरी बौद्ध चक्रवर्ती राजा हुआ। वह समुद्रगुप्त पराक्रम का जिसका नाम सैदपुरभितरी और इलाहाबाद की लाटों पर खुदा है, बेटा था और उसके दादा पहले चन्द्र के दादा गुप्त से गुप्त संवत् गिना जाता था। अभी हम लिख आये हैं कि "एक साहिब ऐसा भी अनुमान करते हैं कि यहां संवत् गुप्तों के राज से चला था बीच में लुप्त हो गया था फिर किसी गुप्त विक्रम ने जारी किया इससे विक्रम का कहलाया।" सो वह विक्रम यही दूसरा चन्द्रगुप्त हो सकता है। विक्रम अथवा विक्रमादित्य उसका ख़िताब था और इसी तरह शिलादित्य अवश्य उसके बेटे कुमार गुप्त महेन्द्र का ख़िताब रहा होगा। इससे पहले कहीं विक्रम के नाम से किसी संवत् का कुछ पता नहीं लगता है। टाड साहिब के बमूजिब सोमनाथ में एक पत्थर पर संवत् १३२० और बल्लभी ६५४ और हिजरी ६६२ लिखा हुआ मिला है। पस मुताबक़त बहुत अच्छी हो जाती है अर्थात् ईस्वी

सम्भव बोध होती है, क्योंकि शकुन्तला और मालविकाग्निमित्र की संस्कृत ही में भेद नहीं, काव्य की उत्तमता मध्यमता में भी आकाश-पाताल का बीच है।

सन् ३१६ अर्थात् गुप्त संवत् ३७६ में कि विक्रम के संवत् के बराबर है गुजरात से गुप्तों के निकलने पर गुप्त संवत लुप्त होकर बल्लभी का संवत् शुरू हुआ। जब विक्रम ने गुप्त संवत् का उद्धार करके उसे फिर चलाया वह अर्थात् गुप्त संवत् अर्थात् विक्रम का चलाया संवत् ११२० बल्लभी संवत् ६२४ के जैसा कि पत्थर पर लिखा है बराबर आया। इसी दूसरे चन्द्रगुप्त विक्रम के पोते स्कन्दगुप्त का कीर्तिस्तम्भ गोरखपुर के ज़िले में सलीमपुर मझौली के पास कुहाव गाँव में अब तक मौजूद है। उसमें लिखा है कि एक सौ राजा उसके सामने सिर झुकाते थे। स्कन्दगुप्त के बाप कुमारगुप्त महेन्द्र की तसवीर जो उसके सिक्के पर है उससे ज़ाहिर है कि वह चौड़ी मुहरी का पाजामा और बुतामदार कोट पहनता था। गुप्त राजाओं के सिक्कों पर अकसर शिव, पार्वती, नंदी, मयूर, सिंह (मयूर कार्तिकेय का वाहन है और सिंह पार्वती का और नन्दी शिव का यह तो हर कोई जानता है) इत्यादि का चिह्न मिलता है। समुद्रगुप्त और स्कन्दगुप्त दोनों निश्चय वैदिक और शैव थे। सन् ३१६ ईस्वी में इन गुप्तों को सेन राजाओं ने गुजरात से निकाल दिया और अपनी राजधानी बल्लभी (कहते हैं कि बल्लभी का राज सन् २०० ईस्वी से कुछ पहले सूर्यवंशी कनकसेन ने अवध से जाकर जमाया था) का संवत् क़ायम किया। यह सेन भी बड़े नामी राजा हुए। निदान ह्वांत्सांग के समय तक अर्थात् सन् ६०० ईस्वी से इधर तक बौद्धमत मध्यदेश में बना रहा, फिर घटते घटते ऐसा घटा कि सन् बारह तेरह सौ ईस्वी से भारतवर्ष में अब नाम को भी बाक़ी न रहा। ह्वांत्सांग

राजतरंगिणी में लिखा है कि कश्मीर के राजा तुंजीन के समय में चन्द्रक कवि ने बड़ा सुन्दर नाटक बनाया। यह तुंजीन राजतरंगिणी के हिसाब से गत कलि ३५८२ में अर्थात् आज से १४०२ वर्ष पहले, ट्रायर के मत से १०३ ई० पूर्व अर्थात् आज से १९८६ वर्ष पहले, कनिंगहम के मत से ईस्वी सन् ३१९ में अर्थात् १५६४ वर्ष पहले, विल्सन के मत से १०८ ई० पूर्व अर्थात् १९८७ वर्ष पहले, विल्फर्ड के मत से सन् ५४ ईस्वी में अर्थात् १८२९ वर्ष पहले हुआ था।

लिखता है कि बनारस में १०० शिवालय और १०,००० शैव मौजूद थे और बिहार में कुल तीस और बौद्ध पाँच हज़ार से भी कम रह गये थे। इसमें सन्देह नहीं कि कन्नौज के भवभूति ने सन् ७२० ईस्वी में मालतीमाधव नाटक बनाया है। उसमें लिखा है कि बिहार के राजा का लड़का माधव न्याय सीखने के लिये उज्जैन में एक बौद्ध गुरनी के पास गया और वहाँ मन्त्री की लड़की मालती भी पढ़ने को आती थी परन्तु दिल्ली में तोमर, कन्नौज में राठौर, महोबे में चंदेल सब शैव और वैष्णव थे। बुद्ध ने चाहा था कि ज्ञान जो बुद्धि से परे और केवल अनुभवसिद्ध है और थोड़ों को ही प्राप्त हो सकता है सबको दान दे और इन सब लोगों का हाल यह है कि मोटी बात चाहते हैं जो दिखलाई दे उसी की पूजा करते हैं। निदान यही मूर्ति और प्रतिमा-पूजन की जड़ हुई यहाँ तक कि स्तूप, वृक्ष, पशु, राख, हड्डी, ईंट, पत्थर इत्यादि सब पूजने लगे।"

जिन-जिन संस्कृत नाटकों की स्थिति मुझको उपलब्ध हुई है, उनकी एक तालिका प्रकाशित की जाती है। इनमें ❀ ऐसा चिह्न जिनपर दिया है वे नाटक मेरे पढ़े हुए हैं और छपे भी हैं और जिनपर × ऐसा चिह्न है वे मेरे पढ़े तो हैं, किन्तु छपे नहीं हैं और शेष भारतवर्ष में मिलते तो हैं किन्तु मेरे देखे हुए नहीं हैं। इन्हीं नाटकों में कोई-कोई ऐसे भी होंगे जो मृच्छकटिक के पूर्व के बने होंगे किन्तु अब इस बात का पता नहीं लग सकता है। यह सारी सृष्टि दो हज़ार वर्ष की है। जिस काल के अनन्त उदर में हम आर्यों के अनन्त ग्रन्थ-रत्न गल-पच गए वहाँ इसके पूर्व के नाटक भी गए। कालिदास, भवभूति प्रभृति महाकवियों के जीवनचरित स्वतन्त्र आलोच्य विषय हैं, इस हेतु यहाँ नहीं लिखे गए।

अथ संस्कृत-नाटक-तालिका

शाकुन्तल*	(कालिदास)	विद्धशालभञ्जिका❀	...
मालविकाग्निमित्र❀	,,	प्रचण्डपाण्डव	...
विक्रमोर्वशी❀	,,	बालरामायण❀	...
मालतीमाधव❀	(भवभूति)	प्रसन्नराघव❀	(जयदेव)
महावीरचरित❀	(भवभूति)	अनर्घ्यराघव❀	(मुरारि)
उत्तररामचरित❀	,,	पुष्पमाला❀	(चन्द्रशेखर)
रत्नावली❀	(श्रीहर्ष)	उदात्तराघव	·
नागानन्द❀	,,	महारामायण	...
प्रियदर्शिका*	(श्रीहर्ष)	अङ्गदनाटक	
धूर्तसमागम*	(राजशेखर)	हनुमन्नाटक	...
कर्पूरमञ्जरी ×	,,	मुद्राराक्षस❀	(विशाखदत्त)

वेणीसंहार❀ (नारायण भट्ट)
धनञ्जयविजय❀ (कांचन)
मृच्छकटिक❀ (शूद्रक)
जामदग्न्यजय ...
समुद्रमथन ...
त्रिपुरदाह ...
शारदातिलक (शङ्कर)
ययातिचरित (रुद्रभट्ट)
ययातिशर्म्मिष्ठा ...
मृगाङ्कलेखा (त्रिमल्लदेव के पुत्र विश्वनाथ)
हास्यार्णव × ...
विदग्धमाधव × (रूपगोस्वामि)
राधामाधव ...
पारिजातक ...
कमलिनीकलहंस (चूड़ामणि-दीक्षित)
तपतीसंवरण (श्रावङ्कोरराज)
मालमङ्गलभाण (मालमङ्गल)
कलावतीकामरूप ...
नग्नभूपतिग्रह नाटक ...
प्रियदर्शना ...
यादवोदय ...
बालिवध ...
अनेकमूर्त्त ...
मयंकपालिका ...

क्रीड़ारसातल ...
कनकावतीमाधव ...
विन्दुमती ...
केलिरैवतक ...
कामदत्ता ...
सुदर्शनविजय ...
वासन्तिकापरिणय ...
चित्रयज्ञ (वैद्यनाथ वाचस्पति भट्टाचार्य)
वृषभानुजा नाटिका × (मथुरा-दास कायस्थ)
ऊषारागोदया × (रुद्रचन्द्र देव)
मल्लिकामारुत* (उद्दण्ड)
वसन्ततिलक भाण* (वरदाचार्य)
मुकुन्दानन्द × ...
नटक मेलक प्रहसन❀ ...
दानकेलिकौमुदी × ...
अभिरामणि (सुन्दरमिश्र)
मधुरानिरुद्ध (चन्द्रशेखर)
कंसवध × (कृष्णकविशेष)
प्रद्युम्नविजय } बालकृष्ण दीक्षित के पुत्र शङ्कर दीक्षित
श्रीरामचरित } साम्राज्यदीक्षित
धूर्त्तनर्त्तक }
कौतुक सर्वस्व (गोपीनाथ पं०)

प्रबोधचन्द्रोदय * (कृष्णमिश्र)
चैतन्यचन्द्रोदय × (कर्णपूर)
सङ्कल्पसूर्योदय❀ (वेदान्ताचार्य)
रामाभ्युदय ·
कुन्दमाला ···
सौगन्धिकाहरण ···
रैवतकमदनिका ···
कुसुमशेखरविजय ···
नमवती ···
विलासवती ···
शृङ्गारतिलक (रुद्रभट्ट)
देव महादेव ···
ताराशशाङ्क (श्रीधर)
चण्डकौशिक❀ (आर्यक्षेमीश्वर)
जानकीराघव ···
रुक्मिणीपरिणय × (रामचन्द्र)
गृहवृक्षवाटिका ···
कुलपत्यङ्ग ···
वध्यशिला ···
तरङ्गदत्त (प्रकरण) ···
लीलामधुकर ···
दूताङ्गद × ···
मुण्डितप्रहसन × (सुभट)
नाटक सर्वस्व ···
उदयन चरित ···
कृत्यारावण ···

रामाभिनन्द ···
रामचरित ···
चन्द्रकला (विश्वनाथ)
प्रभावतीपरिणय ···
पार्वतीस्वयम्वर ···
सुभद्राविजय ···
सुभद्राहरण ···
भैमीपरिणय ···
रुक्मिणीकल्याण (चूड़ामणि)
वसुमती चित्रसेन ···
विद्यापरिणय (वेदकवि स्वामी)
अहल्या सक्रन्दन ···
आनन्दविलास ···
सेवन्तिकापरिणय ···
कनकवल्लीपरिणय ···
रामनाटक ···
सुभद्राधनञ्जयविजय (गुरुराम)
वकुलमालिनापरिणय (कृष्ण दीक्षित)
बसन्तभूषणभाण ···
इन्दिरापरिणय ···
कल्याणीपरिणय ···
कुसुमबाणविलास ···
बटुचरित्र नाटक ···
मरकतवल्लीपरिणय ···
चूड़ामणि नाटक ···

सामवत नाटक (पं० अम्बिकादत्त व्यास साहित्याचार्य)
सौगन्धिका-हरण ...
कुसुमशेखरविजय ...
ललितराम ...
कन्दर्पकेलि ...
स्तम्भितरम्भ ...
विजयपारिजात वा आसामविजय (हरिजीवन)
पुष्पदूषितक (प्रकरण)
ललिता नाटिका ...
जानकीपरिणय × (रामभद्रदीक्षित)
माधवाभ्युदय (वेदान्ताचार्य)
प्रद्युम्नानन्दनीय (वेङ्कटाचार्य)
पंचबाणविजय ..
रविकिरणकूर्चिका ...
सुभद्राधनञ्जय (गुरुराम)
कन्यामाधव
त्रिपुरारि ...
सत्यभामापरिणय (कृष्णकवीन्द्र)
भिक्षाटन नाटक ...
मन्त्राङ्क नाटक ...
संवरणा नाटक ...
सीताराघव नाटक ...
हरिश्चन्द्रयशश्चन्द्रिका ...
नरकासुरव्यायोग ...
अरुणामोदिनी ...
बृहन्नाटक ...
काशिदासप्रहसन ...
अम्बालभाण (श्रीवरदाचार्य)
कृष्णभक्तिचन्द्रिकानाटक × (अनन्तदेव)
अतन्द्रचन्द्रिका (विद्यानिधि)
पार्थपराक्रम ...
भर्तृहरिनिर्वेद ...
धर्मविजयनाटक (शुक्लभूदेव)
सत्यङ्गविजयनाटक (वैद्यनाथ)
चन्द्रप्रभा × ...
कर्णसुन्दरी नाटिका ...
रतिवल्लभ × (जगन्नाथपंडितराज)
जगन्नाथ वल्लभनाटक ...
ध्रुवचरित्र❀ (पं० दामोदरशास्त्री)

अथ भाषानाटक।

हिन्दी भाषा में वास्तविक नाटक के आकार में ग्रन्थ की सृष्टि हुए पचीस वर्ष से विशेष नहीं हुए। यद्यपि नेवाज कवि का

शकुन्तला नाटक, वेदान्त-विषयक भाषा-ग्रन्थ समयसार नाटक, ब्रजवासीदास के प्रबोधचन्द्रोदय प्रभृति नाटक के भाषा-अनुवाद, नाटक नाम से अभिहित हैं किन्तु इन सबों की रचना काव्य की भाँति है, अर्थात् नाटक-रीत्यनुसार पात्रप्रवेश इत्यादि कुछ नहीं है। भाषा-कविकुल-मुकुट-माणिक्य देवकवि का 'देवमायाप्रपंच नाटक' और श्रीमहाराज काशिराज की आज्ञा से बना हुआ 'प्रभावती नाटक' तथा श्रीमहाराज विश्वनाथ सिंह रीवाँ का 'आनन्दरघुनन्दन नाटक' यद्यपि नाटक रीति से बने हैं किन्तु नाटकीय यावत् नियमों का प्रतिपालन इनमें नहीं है और ये छन्दप्रधान ग्रन्थ हैं। विशुद्ध-नाटक रीति से पात्रप्रवेशादि नियम-रक्षण द्वारा भाषा का प्रथम नाटक मेरे पिता पूज्य-चरण श्री कविवर गिरिधरदास (वास्तविक नाम बाबू गोपालचन्द्र जी) का है। इसमें इंद्र को ब्रह्महत्या लगना और उसके अभाव में नहुष का इन्द्र होना, नहुष का इन्द्रपद पाकर मद, उसकी इन्द्राणी पर कामचेष्टा, इन्द्राणी का सतीत्व, इन्द्राणी के भुलावा देने से सप्तऋषि को पालकी में जोतकर नहुष का चलना, दुर्वासा का नहुष को शाप देना और फिर इन्द्र का पूर्वपद पाना, यह सब वर्णित है। मेरे पिता ने बिना अँगरेज़ी शिक्षा पाए इधर क्यों दृष्टि दी, यह बात आश्चर्य की नहीं; उनके सब विचार परिष्कृत थे। बिना अँगरेज़ी की शिक्षा के भी उनको वर्तमान समय का स्वरूप भली भाँति विदित था। पहले तो धर्म के विषय में ही वे इतने परिष्कृत थे कि वैष्णवव्रत पूर्णपालन के हेतु उन्होंने अन्य देवता मात्र की पूजा और व्रत घर से उठा दिए थे। टामसन साहब लेफ्टिनेंटगवर्नर के समय काशी में पहला लड़कियों का स्कूल हुआ तो हमारी बड़ी बहिन को उन्होंने उस स्कूल में प्रकाश रीति से पढ़ने बैठा दिया। यह कार्य उस समय में बहुत ही कठिन था क्योंकि इसमें बड़ी ही लोकनिन्दा थी। हम लोगों को अंगरेज़ी शिक्षा दी। सिद्धान्त यह

कि उनकी सब बातें परिष्कृत थीं और उनको स्पष्ट बोध होता था कि आगे काल कैसा चला आता है। नहुष नाटक बनने का समय मुझको स्मरण है। आज पचीस बरस हुए होंगे, जब कि मैं सात बरस का था, नहुष नाटक बनता था। केवल २७ वर्ष की अवस्था में मेरे पिता ने देहत्याग किया, किन्तु इसी अवसर में चालीस ग्रन्थ—जिनमें बलरामकथामृत, गर्गसंहिता, भाषावाल्मीकि रामायण, जरासन्धवध महाकाव्य और रसरत्नाकर ऐसे बड़े बड़े भी हैं—बनाए।

हिन्दी भाषा में दूसरा ग्रन्थ वास्तविक नाटककार राजा लक्ष्मण सिंह का शकुन्तला नाटक है। भाषा के माधुर्य आदि गुणों से यह नाटक उत्तम ग्रन्थों की गिनती में है। तीसरा नाटक हमारा विद्यासुन्दर है। चौथे के स्थान में हमारे मित्र लाला श्रीनिवासदास का तपतीसंवरण, पंचम हमारा वैदिकीहिंसा, षष्ठ प्रियमित्र बाबू तोताराम का केटोकृतान्त और फिर तो और भी चार कृतविद्य लेखकों के लिखे हुए अनेक हिन्दी नाटक हैं। सर विलियम म्योर ❀ साहिब के काल में अनेक ग्रन्थ बने हैं क्योंकि वे ग्रन्थ बनानेवालों को पारितोषिक देते थे। इसीसे रत्नावली भी हिन्दी में बनी† और छपी है किन्तु इसकी ठीक वही दशा है जो पारसी नाटकों की है। काशी में पारसी नाटकवालों ने नाचघर में जब शकुन्तला नाटक खेला और उसमें धीरोदात्त नायक दुष्यन्त खेमटेवालियों की तरह कमर पर हाथ रख कर मटक-मटक

❀सन् १८७६ ईस्वी जुलाई में मैंने भी एक कवित्त भेजा था जिस पर इन्होंने अनेक धन्यवाद दिया था।

†इसका बरेली कौलेज के संस्कृत प्रोफ़ेसर पंडित देवदत्त तिवारी ने उल्था किया है।

कर नाचने और 'पतरी कमर बल खाय' यह गाने लगा तो डाक्टर थिबो, बाबू प्रमदादास मित्र प्रभृति विद्वान् यह कह कर उठ आए कि अब देखा नहीं जाता। ये लोग कालिदास के गले पर छुरी फेर रहे हैं। यही दशा बुरे अनुवादों की भी होती है। बिना पूर्व-कवि के हृदय से हृदय मिलाए अनुवाद करना शुद्ध झख मारना ही नहीं, कवि की लोकान्तर स्थित आत्मा को नरक कष्ट देना है।

इस रत्नावली की दुर्दशा के दो चार उदाहरण यहाँ दिखलाए जाते हैं। यथा 'तब यह प्रसंग हुआ कि यौगन्धरायण प्रसन्न होकर रंगभूमि में आया और यह बोला, 'और गान कर कहता है कि अए मदनिके' अब कहिए यह राम कहानी है कि नाटक ?

और आनन्द सुनिए 'जो आज्ञा रानीजी की ऐसा कर तैसा ही करती है' हाहाहा !!!

एक आनन्द और सुनिए। नाटकों में कहीं कहीं आता है 'नाट्येनोपविश्य' अर्थात् पात्र बैठने का नाट्यकरता है। उसका अनुवाद हुआ है 'राजा नाचता हुआ बैठता है' 'नाट्येनोल्लिख्य' की दुर्दशा हुई है 'ऐसे नाचते हुई लिखती है।' ऐसे ही 'लेखनी को लेकर नाचती हुई' 'निकट बैठ कर नाचती हुई'।

और आनन्द सुनिए 'इति विष्कम्भकः' का अनुवाद हुआ है 'पीछे विष्कम्भक आया'। धन्य अनुवादकर्ता ! और धन्य गवर्नमेंट जिसने पढ़नेवालों की बुद्धि का सत्यानाश करने को अनेक द्रव्य का भाद्ध करके इसको छापा !!!

गवर्नमेंट की तो कृपादृष्टि चाहिए, योग्यायोग्य के विचार की आवश्यकता नहीं। फालेन साहब की डिक्शनरी के हेतु आधे लाख रुपये से विशेष व्यय किया गया तो यह कौन बड़ी बात है। 'सेत सेत सब एक से, जहाँ कपूर कपास'। यहाँ तो 'भेंट भए जयसाहि

सौ भाग चाहियत भाल' वाली बात है। किन्तु ऐसी दशा में अच्छे लोगों का परिश्रम व्यर्थ हो जाता है क्योंकि 'आँधरे साहिब की सरकार कहां लौं करे चतुराई चितेरो'।

यद्यपि हिन्दी भाषा में दस-बीस नाटक बन गए हैं किन्तु हम यही कहेंगे कि अभी इस भाषा में नाटकों का बहुत ही अभाव है। आशा है कि काल की क्रमोन्नति के साथ ग्रन्थ भी बनते जायँगे। और अपनी सम्पत्तिशालिनी ज्ञानवृद्धा बड़ी बहन बंगभाषा के अक्षय रत्न-भांडागार की सहायता से हिन्दी भाषा बड़ी उन्नति करे।

यहाँ पर यह बात प्रकाश करने में भी हमको अतीव आनन्द होता है कि लण्डननगरस्थ श्रीयुत फ्रेडरिक पिनकाट साहब* ने भी शकुन्तला का हिन्दी भाषा में अनुवाद किया है। वह अपने २० मार्च के पत्र में हिन्दी ही में मुझको लिखते हैं 'उस पर भी मैंने हिन्दी भाषा के सिखलाने के लिए कई एक पोथियाँ बनाई हैं। उनमें से हिन्दी भाषा में शकुन्तला नाटक एक है।'

हिन्दी भाषा में जो सबसे पहला नाटक खेला गया वह जानकी मंगल था। स्वर्गवासी मित्रवर बाबू ऐश्वर्य्य नारायणसिंह के प्रयत्न से चैत्र शुक्ल ११ संवत् १९१५ में बनारस थिएटर में बड़ी धूमधाम

---

*इनसे मुझे संस्कृत, नागरी की उन्नति होने की अधिक आशा है; क्योंकि इन्होंने संस्कृत हिन्दी के अनेक ग्रन्थ पुराचीन और नवीन संग्रह किये हैं और तन, मन, धन से संस्कृत हिन्दी की उन्नति चाहते हैं। मैं हिन्दी का यह सौभाग्य समझता हूँ। ऐसे सहायक मित्र मिलने से हिन्दी रसिकों को भी अभिमान होना चाहिये। ये उन पुराचीन ग्रन्थों के प्रकाश के लिये यत्न कर रहे हैं जो अब तक प्रकाशित नहीं हुए हैं। इनके कई पत्रों का संग्रह हिन्दी भाषा में है।

से यह खेला गया था। रामायण से कथा निकालकर यह नाटक पंडित शीतलाप्रसाद त्रिपाठी ने बनाया था। इसके पीछे प्रयाग और कानपुर के लोगों ने भी रणधीर-प्रेममोहिनी और सत्यहरिश्चन्द्र खेला था। पश्चिमोत्तर देश में ठीक नियम पर चलने वाला कोई आर्य शिष्टजन का नाटकसमाज नहीं है।

अथ हिन्दी-नाटक-तालिका।

नहुषनाटक (श्रीगिरधरदास)
शकुन्तला (राजा लक्ष्मण सिंह)
,, (फ्रेडरिक पिनकाट साहब)
मुद्राराक्षस (हरिश्चन्द्र)
सत्यहरिश्चन्द्र ,,
विद्यासुन्दर ,,
अन्धेर नगरी ,,
विषस्य विषमौषधम् ,,
सतीप्रताप ,,
चन्द्रावली ,,
माधुरी ,,
पाखंड-विडम्बन ,,
नवमल्लिका ,,
दुर्ल्लभबन्धु ,,
प्रेमयोगिनी ,,
जैसा काम वैसा परिणाम ,,
कर्पूरमंजरी ,,
नीलदेवी ,,
भारतदुर्दशा ,,
भारतजननी ,,
धनंजय विजय (हरिश्चन्द्र)
वैदिकी हिंसा ,,
बूढ़े मुँह मुँहासे लोग देखे तमाशे (बूढ़ा शालिकेर का अनुवाद) } बाबूगोकुलचन्द
अद्भुत चरित्र वा गृहचंडी (श्रीमती)...
तपतीसंवरण (लाला श्रीनिवासदास)
रणधीर-प्रेममोहिनी ,,
केटो कृतान्त (बाबू तोताराम भारतबंधु-सम्पादक)
सज्जाद-सुम्बुल (बाबू केशोराम भट्ट विहारबन्धु-सम्पादक)
शमशाद-सौसन ,,
जय नारसिंह की (पं० देवकीनन्दन तिवारी, प्रयाग समाचार पत्र सम्पादक)
होलीखगेश ,,

चक्षुदान ,,

पद्मावती, शर्मिष्ठा, चद्रसेन } (पं० बालकृष्ण भट्ट हिन्दीप्रदीप-सपादक)

सरोजिनी (पं० गणेशदत्त)

,, (राधाचरण गोस्वामी भारतेन्दु-सम्पादक)

मृच्छकटिक (पं० गदाधरभट्ट मालवीय)

मृच्छकटिक (पं० दामोदर शास्त्री)

मृच्छकटिक (बाबू ठाकुरदयालसिंह)

नारांगनारहस्य (प० बदरी नारायण चौधरी, आनन्दकादम्बिनी के सम्पादक)

विज्ञान विभाकर (प० जानी बिहारी लाल)

ललिता नाटिका (प० अम्बिका दत्त व्यास साहित्याचार्य, वैष्णव पत्रिका और पीयूषप्रवाह के सम्पादक)

देव पुरुष-दृश्य ,,

वेणीसंहार नाटक ,,

गोसंकट ,,

जानकीमंगल (पं० शीतलाप्रसाद त्रिपाठी)

दु.खिनीबाला (बाबू राधाकृष्णदास)

पद्मावती ,,

महाराज (महाराजाधिराज कुमार लाल खड्ग बहादुरमल्ल युवराज मझौली राज)

रामलीला ७ कांड (पं० दमोदर शास्त्री, विद्यार्थी सम्पादक)

बालखेल ,,

राधामाधव ,,

वेनिस का सौदागर (बाबू बालेश्वरप्रसाद काशीपत्रिका सम्पादक)

,, बाबू ठाकुरदयाल सिंह

योरप में नाटकों का प्रचार

योरप में नाटकों का प्रचार भारतवर्ष के पीछे हुआ है। पहिले दो मनुष्यों के संवाद को ही वहाँ नाटकों का सूत्रपात मानते हैं। प्राचीन ईसाई-धर्मपुस्तक में 'बुक अव् जाब' और सुलैमान के गीतों में ऐसे संवाद मिलते हैं किन्तु इनके अतिरिक्त हिब्रू भाषा में और

कोई प्राचीन नाटक का ग्रन्थ नहीं। योरप में सबसे प्राचीन नाटक यूनान में मिलते हैं और यह निश्चय अनुमान हुआ है कि भारतवर्ष से वहाँ यह विद्या गई होगी। यूनान में एथेन्स प्रदेश में नाटकों का प्रचार विशेष था और डायोनिसस * नामक देवता के मेले में नाटक प्रायः खेले जाते थे। अनुमान होता है कि बैकस † नामक देवता की पूजा से वहाँ इनका चलन हुआ। प्राचीन काल से योरप के नाटक संयोगान्त और वियोगान्त इन दो भागों में बँटे हैं। आरिअन नामक कवि ने ५८० वर्ष ईसा के पूर्व्व वियोगान्त नाटक की सृष्टि की। ट्रैजिडी (Tragedy) शब्द बकरे से निकला है जिससे अनुमान होता है कि बैकस देवता के सामने बकरे का बलि दिया जाता था और उसी समय पहिले यह खेल आरम्भ हुआ; इससे वियोगान्त नाटक की संज्ञा ट्रैजिडी हुई। कामेडी (Comedy) ग्राम शब्द से निकला है अर्थात् ग्राम्य सुखों का जिसमें वर्णन हो वह कामेडी (संयोगान्त) है। थेसपिस ने (५३६ ई० पू०) प्रथम रंगशाला में एक शिष्य का वेष देकर मनुष्यों को संवाद पढ़वाया और उसी पात्र को फ्रिनिशश ने (५१२ ई० पू०) पहले पहल स्त्री का वेष देकर रंगशाला में सब को दिखलाया। इसके पीछे इशिलस के काल तक वियोगान्त नाटकों में फिर कोई नई उन्नति नहीं हुई।

आरिअन ही के समय में वरन् उसी के लाग पर सुसेरिअन ने संयोगान्त नाटकों का प्रचार सारे यूनान में फिर फिर कर किया और एक छोटी सी चलती-फिरती रंगशाला भी उनके साथ थी। उस काल के ये नाटक अब के बंगाली यात्रा वा रास के से होते थे। उस समय

---

*यह युद्ध का देवता था।

†यह मद्य का देवता है। प्रिंसिप साहब कहते हैं कि यह बलराम है।

में वियोगान्त नाटक गम्भीराशय और विशेष चित्ताकर्षक होने के कारण सभ्य लोगों में और सयोगान्त ग्राम्य लोगों में खेले जाते थे। एपिकार्मस, फार्मस, मैग्नेस, क्रेटस्, क्रेटनस, यूगोलिस, फेटिक्रेटस् और एलिस्टेफेंस ये सब उस काल के प्रसिद्ध कामेडी-लेखक थे। बीच में लोगों ने संयोग-वियोग मिलाकर भी पुस्तकें लिखकर इस विद्या की उन्नति की।

वियोगान्त नाटक में इशिलस, सोफाक्लीस और यूरुपिडीस ये तीन बड़े दक्ष हुए। इन कवियों ने स्वयं पात्रों को अभिनय करना सिखाया और स्वाभाविक भावभंगी दिखलाने में विशेष परिश्रम किया। अरस्तू ने इन्हीं तीनों कवियों की अपने ग्रन्थ में बड़ाई की है।

रोमवाले नाटकविद्या में ऐसे दक्ष नहीं थे। इन लोगों ने यूनान वालों ही से इस विद्या का स्वाद पाया। शोक का विषय है कि प्लाटस और टेरेन्स के अतिरिक्त इन कवियों में से किसी का न नाम मालूम है न कोई ग्रन्थ मिला। प्रसिद्ध आगस्टस के समय में रोम में इस विद्या की उन्नति हुई थी किन्तु सेनीका नामक नाटक के अतिरिक्त और किसी ग्रन्थ का नाम तक कहीं नहीं मिला। रोम के बड़े-बड़े महलों और वीरों के साथ वहाँ की विद्या और कला भी धूल में मिल गई, यहाँ तक कि उनका नाम लेने वाला भी कोई न बचा। जब रोम में क्रिस्तानी मत फैला तो ऐसे नाटक वा खेल राजनियम के अनुसार निषिद्ध कर दिए गए। केवल पिता-पुत्र एपोलीनारी और ग्रेगरी ने इंजील से कथाभाग लेकर क्रिस्तानों का जी बहलाने को कुछ सवाँग इत्यादि बनाए थे।

योरप में इटलीवालों ने पहले-पहल ठीक तरह से नाटक के प्रचार में उद्योग किया और रोमवालों के चित्त में फिर से मुरझाए हुए इस बीज को हरा किया। सोलहवीं शताब्दी में ट्रिसनो कवि का

सोफोनिस्बा नामक वियोगान्त नाटक पहले-पहल छापा गया। आरिआस्टोवैबिना और मैशियाविली ने ट्रिसीनो और कई नाटक लिखे। इसी शताब्दी के अंत में गिएम्बाटिस्टालिआपोर्टा ने प्रहसन पहले-पहल प्रकाश किया और इसमें परिहास की बातें ऐसी सुसभ्यता से वर्णन कीं कि लोगों ने नाटक की इस शैली को बहुत ही प्रसन्नता से स्वीकार किया। इसी समय में हिशी, बारगिनी, ओडो और बुओनाटोरी ने जातीय स्नेह बढ़ानेवाले वीररसाश्रित इतिहास के खेल लिखे और उनका प्रचार किया। सत्रहवीं शताब्दी में रिनुशिनी ने पहले-पहल आपेरा (संगीत नाट्य) का आरम्भ किया। इसमें उसने ऐसी उत्तम रीति से प्रेम, देशस्नेह, वीर और करुण रस के गीत बाँधे कि सब लोग और नाटकों को भूलकर इसी की ओर झुके। मैफी नामक कवि ने इसकी और भी उन्नति की। अब स्पेन, फरासीस आदि में चारों ओर इसी गीतिनाट्य का चर्चा फैल गया। इसके पीछे जीनो, मेटैस्टेसिओ, गोलडोनी, मोलिएर, रिशोबिनी, गोज्जी, गालडोनी, आलफीरी, मांटी, मांजानी और निकोलिनी इत्यादि प्रसिद्ध कवियों ने पूर्वोक्त नाटकों के ऐसी उत्तमता से ग्रन्थ लिखे और नाट्य में ऐसी उन्नति की कि इटली इस विद्या में सारे योरप की गुरु मानी गई।

योरप के और देशों में नाटकों के प्रचार को पादरियों ने बहुत रोका। जहाँ कोई नाटक खेलता, ये पादरी उसको धर्म्म दंड देने को दौड़ते। विलेना, सान्तिलाना, नहारो और रूएडा नामक कवियों ने इस आपत्ति से बचने को अपनी लेखनी को धर्म्मविषय के नाटकों के लिखने पर परिचालित किया। विशेष करके करवैंटस ने अपने नाटक ऐसी उत्तमता से लिखे कि लोगों के चित्त से नाटकों की बुराई का संस्कार एकबारगी उठ गया। इसके पीछे कल्डिरन भी ऐसा ही

उत्तम कवि हुआ कि उसको राजनियम-विरुद्ध होने पर भी सैंतीस बरस के वास्ते नाटक लिखने की राजाज्ञा मिली। ये दोनों कवि सत्रहवीं शताब्दी के पूर्व भाग में हुए थे।

फरासीस में नाटकों के विषय में बहुत सा वाद-विवाद होता रहा और इसके होने के नियमों पर लोगों में बड़ा चरचा रहा किन्तु कोई बहुत उत्तम नाटक-लेखक उस समय नहीं हुआ। जाडिली ने पहले-पहल पाँच अंक का एक वियोगान्त नाटक ठीक न्याल पर बनाया और फरासीस के दूसरे हेनरी बादशाह के सामने वह खेला गया। चौदहवें लुई के दरबार में कार्निली, मोलिएर और रैसिनी क्रम से एक से दूसरे अच्छे नाटक वाले हुए। इसके पीछे वालटायर बड़ा प्रसिद्ध हुआ और फिर चार-पाँच और प्रसिद्ध कवि हुए।

जर्मनी के नाटक के इतिहास में अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ तक कोई भी विशेष बात नहीं। लेसिंग ने पहले पहल-अपनी धूमधाम की समालोचना में जर्मनी का ध्यान इधर फेरा। इसके पीछे गोथे और सिलर—यह दो बड़े प्रसिद्ध लेखक हुए।

इङ्गलैंड के नाटकों का इतिहास अत्यन्त शृङ्खलाबद्ध है। पहले यहाँ केवल मत-सम्बन्धी नाटक होते थे और इनका प्रबन्ध भी पादरियों के हाथ में रहता था। ये नाटक दो प्रकार के होते थे—एक धर्म्मसम्बन्धी आश्चर्य घटनाओं के, दूसरे शिक्षा सम्बन्धी। इङ्गलैंड के पुनस्संस्कार ने इन पुरानी बातों में कोई स्वाद बाकी न रक्खा, यहाँ तक कि सोलहवीं शताब्दी के मध्य में संयोग और वियोग के नाटक स्वतंत्र रूप से वहाँ प्रचण्ड हुए। पहला संयोगान्त नाटक सन् १५५७ में निकोलस उडाल ने लिखा। ठीक उसके दस बरस पीछे बीबी नोरटैन और लार्ड बकहर्स्ट ने गारवूडाक नामक पहला वियोगान्त नाटक बनाया। उसके पीछे स्टिल, किड, लॉज, ग्रीन,

लायली, पील, मार्लो और नैश इत्यादि कई प्रसिद्ध नाटककार हुए। जगद्विख्यात शेक्सपियर ने अपने वाक्य-माधुर्य्य के आगे सबको जीत लिया। यह प्रसिद्ध कवि सन् १५६४ में स्ट्राटफ़र्ड वार्विकशायर में उत्पन्न हुआ। इसका पिता ऊन का व्यवसाय करता था और उसके दस लड़कों में शेक्सपियर सबसे बड़ा था। काल पाकर यह ऐसा प्रसिद्ध कवि हुआ कि पृथ्वी के मुख्य कवियों की गणना में एक रत्न समझा जाने लगा। इसको जैसी कविताशक्ति थी वैसी ही विचित्र कथाओं को बाँधने की भी शक्ति थी। जिसके मस्तिष्क में ये दोनों शक्तियाँ एकत्र हों उसके बनाए हुए नाटकों का क्या पूछना है। नाटक भी इसने बहुत बनाए और सब रस के। निस्सन्देह यह मनुष्य परमेश्वर की सृष्टि का एक रत्न हुआ है।

बेनजानसन, ब्यूमौंट और फ़्लेचर ये तीन शेक्सपियर के समकालीन प्रसिद्ध नाटककार हुए हैं। मैसिंजर, फ़ोड और शरली के काल तक इङ्गलैंड की प्राचीन नाटक-प्रणाली समाप्त होती है। सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में ड्राइडन ने नई प्रणाली के नाटक लिखने आरम्भ किए। अठारहवीं शताब्दी में लो, आटवे, ग्रे, कानग्रीव, सिबर, विचरली, वैनब्रो, फारक्वहर, एडिसन, जानसन, यंग टामसन, लिलो, मूर, गैरिक, गोल्डस्मिथ, कालमस, कम्बरलैंड, हालक्राफ्ट, बीबी इववाल्ड, लूइस, मैटूरिन और मैटयूरिन तथा आधुनिक काल में शेरिडन नोल्स, बुलवर लिटन, लार्ड वैरन, कालेरिज, हेनरी टेलर, टालफोर्ड, जेरल्ड ब्रूक्स, मार्स्टन, टामलेटर, चार्ल्सरीड, राबर्टसन, विल्स, वैरन, गिल्बट, स्विनवर्न, टेनीसन और ब्रौनिङ्ग प्रसिद्ध नाटककार गद्य-पद्य के कवि हुए हैं।

इङ्गलैंड में इन नाटक लिखनेवालों के हेतु एक राजनियम है जिससे अपने जीवित समय में कवि लोग और उनके पीछे उनके उत्तराधिकारी कविस्वत्व का भोग कर सकते हैं।

॥ इति ॥

टिप्पणियाँ

पृष्ठ ५—श्रव्य काव्य—वह है जिसके पढ़ने या सुनने मात्र से कानों को काव्य जनित आनन्द प्राप्त होता है।

पृष्ठ ६—नाट्य—"नृत्यगीतवाद्य नाट्यम्" अर्थात् नाचना, गाना, बजाना—ये तीनों मिलकर नाट्य कहाते हैं अर्थात् किसी भी अवस्था के अनुकरण को जिसमें उक्त तीनों चीज़ें मौजूद हों, नाट्य कहते हैं—

पृष्ठ ६—ताण्डव—कोमलता विवर्जित अर्थात् उद्धत नृत्य को ताण्डव कहते हैं। मनुष्यों में सर्वप्रथम इसका प्रचार 'तण्डि' नामक मुनि ने किया था, इसीसे इसका नाम 'ताण्डव' पड़ा।

पृष्ठ ६—लास्य—वह नृत्य जिससे शृंगार आदि कोमल रस उद्दीप्त होते हैं। इसमें प्रायः छोटे छोटे लड़के और लड़कियाँ आपस में एक-दूसरे का हाथ पकड़ कर नाचते हैं। यह नृत्य आज कल श्री कृष्ण-लीला में होता है।

पृष्ठ ६—रूपक—दृश्यकाव्य में चक्षु इन्द्रिय से विशेष आनन्द मिलता है और चक्षु का विषय है रूप; इसीलिए दृश्य-काव्य ही रूपक कहलाता है। रूपक में अभिनय करने वाला जिस व्यक्ति का रूप धारण करता है उसीके अनुकूल वार्त्तालाप एवं हाव-भाव प्रदर्शित करता है। रूपकों में रसों की प्रधानता रहती है, और उपरूपकों में नृत्य, नृत आदि की।

नाट्यशास्त्र में—शृंगार, वीर, वीभत्स, रौद्र, हास्य, अद्भुत, भयंकर और करुण—आठ रस माने गये

हैं जिनमें प्रथम चार प्रधान हैं।

पृष्ठ ७—नायक—नाटक के प्रधान पात्र को नायक और प्रधान पात्री को नायिका कहते हैं।

पृष्ठ ९—विदूषक—यह नायक का मित्र होता है, इसका काम लोगों को हँसाना है। अभिनय में इसे हँसी-मज़ाक़ की अधिक स्वतंत्रता रहती है।

पृष्ठ १०—प्रवेशक—नाटक के अन्तर्गत वह दृश्य है जिसमें बीती हुई अथवा आगे होने वाली बातों की सूचना नीच पात्रों द्वारा दी जाती है। यह दो अंकों के बीच में आता है और इसके द्वारा उन्हीं बातों का वर्णन किया जाता है जो छोड़ दी जाती हैं या छूट गयी हों।

पृष्ठ १०—विष्कम्भक—यह भी नाटक के अन्तर्गत एक दृश्य है इसमें कही हुई तथा कही जाने वाली कथा की सूचना मध्यम पात्रों द्वारा दी जाती है।

पृष्ठ १०—उदात्त—श्रेष्ठ तथा स्वाभिमानी नायक को कहते हैं

पृष्ठ१०—वासकसजा—वह नायिका है जो शृङ्गारादि से सुसज्जित होकर अपने पति या प्रिय के आने की प्रतीक्षा में क्रीड़ा तथा हर्ष की सामिग्री सजावे।

पृष्ठ १०—पीठमर्द—यह नायक के सब सहायकों में मुख्य और उसका अन्तरंग मित्र होता है। इसमें नायक के सब गुण न्यून मात्रा में रहते हैं। यह वाक्पटु और नायक का भक्त होता है।

पृष्ठ १३—(क) "ययाति····भव."

शकुन्तला की विदाई के समय कण्व ऋषि आशीर्वाद देते हैं—हे शकुन्तला, ययाति की स्त्री शर्मिष्ठा की तरह तू भी अपने पति की बहुत आदरवती हो।

(ख) नाटक में नायक का नाटकीय फल से जो भिन्न कार्य

है वह प्रकरी कहलाता है। वास्तव में प्रसंगानुकूल छोटे-छोटे प्रकरण ही प्रकरी कहलाते हैं, जैसे रामायण में रावण-जटायु संवाद।

(ग) गुणों का वर्णन करना 'विलोभन' कहलाता है, जैसे वेणीसंहार में—हे नाथ, आपके लिए क्या दुष्कर है यदि आप क्रुद्ध हो जायँ ?

(घ) रोष - पूर्ण वचन संफेट् कहलाता है, जैसे वेणीसंहार में राजा दुर्योधन भीम से कहता है—"अरे भीम, वृद्ध राजा (धृतराष्ट्र) के आगे तू अपने निन्दित कार्य की भी प्रशंसा करता है।"

(ङ) पंचसंधि—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श, उपसंहृति,

पृष्ठ १४—रंगशाला—वह स्थान जहाँ नाटक खेला जाता है।

पृष्ठ १४—चित्रपट—नाटक का वह पर्दा जिस पर दृश्यानुकूल चित्र बने रहते हैं।

पृष्ठ १६—सूत्रधार—यह रंगशाला का व्यवस्थापक होता है। सर्व-प्रथम यह रंगशाला में आकर कोई प्रार्थना-गीत गाता है और दर्शकों को नाटक का नाम तथा उसके विषय आदि का परिचय कराता है।

पृष्ठ १७—घुणाक्षर न्याय—ऐसा कार्य जो घुन के कारण लकड़ी पर बने हुए अक्षरों की भाँति बिना प्रयत्न किये स्वयं सिद्ध हो जाय।

पृष्ठ १८—पटाक्षेप—नाटक का एक अंक समाप्त होने पर जब यव-निका-पात होता है, तो उसे पटाक्षेप कहते हैं।

पृष्ठ २१—"लाक्षा..... .....धार्त्तराष्ट्र ?"

अर्थात् भीम ने कहा—"लाक्षागृह में अग्नि लगाने, विषयुक्त भोजन देने एवं सभा प्रवेश (छल से बुलाकर

जुआ खिलाना तथा द्रौपदी का अपमान कराना आदि) द्वारा हम लोगों (पांडवों) के प्राण तथा धन-समूह को हरण करके, पाण्डव-वधू (द्रौपदी) के चीर और केशों को खींचकर, मेरे जीवित रहते क्या कौरवगण प्रसन्न रह सकते हैं?

पृष्ठ २५—भाव—"विकारोमानसो भावः" मन के विकार (परिवर्त्तन) को भाव कहते हैं।

विकार—प्रकृति के बदल जाने को कहते हैं जैसे 'कनक-कुण्डल' यह कनक का विकार है।

हाव—मनोविकार से उपजी क्रिया व चेष्टा को कहते हैं अर्थात् रति-विकार के उस तीव्र-स्वरूप को कहते हैं जिससे भँवों, नेत्र तथा चाल-ढाल में एक प्रकार का अनोखा-पन सा आ जाता है।

हेला—कामवासना का भाव जब बिल्कुल स्पष्ट रूप में दिखाई देने लगता है तो उसे हेला कहते हैं।

पृष्ठ ३४—आन्वीक्षिकी—गौतम आदि की रची तर्कविद्या अर्थात् न्याय-शास्त्र का नाम है।

दंडनीति—बृहस्पति के रचे अर्थशास्त्र यानी नीतिशास्त्र का नाम है।

विभाव—रतिभाव का जागरण एवं उद्दीपन भाव विभाव कहलाता है।

अनुभाव—जो भाव का सूचक गुण क्रियादि है, उसे अनु-भाव कहते हैं। यह रति आदि सूचक रोमांच का नाम है।

त्रिवर्ग—अर्थ, धर्म और काम। सत्व, रज और तम।

नांदी—नाटक के आदि में सूत्रधार द्वारा ध्वजा हाथ में लेते हुए, रंगमंच पर टहलते हुए जो स्तुति पाठ किया जाता

है, उसे नांदी कहते हैं।

पृष्ठ ३५—विट—अधिकारी नायक का निजी सेवक जो धूर्त्त और संभोग विषयों में अजान किन्तु वेशोपचार में निपुण और वाचाल होता है।

चेट—दास को कहते हैं।

पृष्ठ ३५—नर्मसखा—यह नायक को प्रसन्न करने वाला अथवा हास्य-पूर्ण क्रीणा करने वाला होता है।

पृष्ठ ३७—स्वकीया नायिका—अपने ही पति से प्रेम करने वाली स्त्री। इसमें शील, सरलता आदि गुण होते हैं। यह पतिव्रता, सच्चरित्रा और लज्जावती होती है।

पृष्ठ ३९—"वीणावादन ..... महात्मनः"—अर्थात्—वीणा-वादन के तत्व को जानने वाला, श्रुति समुदाय का पंडित, ताल (गान आदि में क्रिया का परिमाण) का ज्ञाता—ये बिना प्रयत्न के ही मोक्ष मार्ग को प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥

काव्य के समस्त आलाप और सम्पूर्ण गीत—ये शब्द-रूप को धारण करने वाले महात्मा विष्णु के अंश हैं ॥ २ ॥

पृष्ठ ३९—रंग—नाटक में गाना-बजाना या अभिनय-स्थल को कहते हैं।

पृष्ठ ४० (क) "भैमामि..... उपचक्रमुः"

अर्थात् भीम के सम्बन्धी आदि भी जो भयंकर काम करने वाले हैं, उन्होंने नेपथ्य बाँधा, नट का वेष धारण किया और नृत्य का कार्य आरम्भ किया।

पृष्ठ ४१—"पूरा ..... बभूव"

अर्थात् प्राचीन समय में कवियों की गणना में कालिदास का पाँचवां स्थान था, किन्तु इस समय उनके समान

कोई कवि न होने के कारण, अनामिका उँगली को उन्हें आधुनिक युग का प्रथम कवि मानने का गौरव प्राप्त है।

पृष्ठ ४१—"भवभूते·····ग्रावा"

अर्थात् भवभूति के सम्बन्ध से वाणी ऐसे शोभा पाती है जैसे पहाड़ों की वजह से पृथ्वी की शोभा है। इनका करुण रस का काव्य इतना उत्कृष्ट है कि और को तो बात ही क्या है, पत्थर भी रो उठता है।

पृष्ठ ४३—"जाते ····· दंडिनि"

अर्थात् संसार में वाल्मीकि के पैदा होने पर 'कवि' यह नाम हुआ। इसके बाद व्यास के पैदा होने पर कवियों की २ संख्या हुई और हे दंड, तेरे होने पर कवियों की ३ संख्या हुई।

पृष्ठ ४३—"नीलोत्पल·····सरस्वती"

अर्थात् नीलकमल के पत्रों के समान श्यामवर्ण वाली मुझ विज्जिका को, दंडि ने, बिना जाने हुए वृथा ही 'सर्व-शुक्ला सरस्वती' कहा।

पृष्ठ ४३—"सरस्वतीव·····दनन्तरम्"

अर्थात् सरस्वती की भाँति कर्णाट देशवासिनी विजयांका ने उन्नति की जिसने कालिदास के पश्चात् वैदर्भ-सम्बन्धी काव्य की रचना की।

पृष्ठ ४३—"सूत्रधार·····कुलैरिव"

अर्थात् सूत्रधार द्वारा आरम्भ किये गये बहुत भूमिका वाले नाटकों से भास ऐसे शोभित होते हैं जैसे पताका सहित देव-मन्दिरों से वह स्थान।

"भासो ·····विलासः" अर्थात् भास हास-स्वरूप हैं और कविकुल गुरु कालिदास विलास-स्वरूप हैं।

प्रस्तावना

उत्पत्ति काल

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र उन अलौकिक आत्माओं में थे जिनका प्रादुर्भाव समय-समय पर देश-हित के लिए हुआ करता है। ऐसी आत्माएँ थोड़े काल के लिए ही संसार में आती हैं और अपने जादू-भरे कार्यों की एक अपूर्व छाप छोड़ कर चली जाती हैं। इनकी कार्य-शैली विचित्र होती है; इनके अपूर्व साहस का संसार लोहा मानता है। अस्तु, भारतेन्दु जी में ये सब बातें पूर्ण रूप से विद्यमान थीं। सक्षेप में उनका परिचय नीचे दिया जाता है:—

लगभग सौ वर्ष हुए होंगे, मुग़ल-साम्राज्य का अन्त हो चुका था; अंग्रेज़ी राज्य की दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति हो रही थी; स्थान-स्थान पर स्कूल, कालेजों की स्थापना की भरमार थी, देश की राष्ट्रभाषा अंग्रेज़ी नियत हुई और प्रत्येक विषय की शिक्षा का माध्यम भी अंग्रेज़ी रखा गया। परिणाम यह हुआ कि लोगों में अपनी मातृभाषा से अरुचि हुई और अंग्रेज़ी भाषा के प्रति अनुराग और ममत्व पैदा हुआ।

इस समय हिन्दी में पद्य के थोड़े से प्राचीन ग्रन्थों को छोड़कर, गद्य का प्रायः अभाव ही सा था। केवल गद्य की इनी-गिनी पुराने ढङ्ग की कुछ पुस्तकें ही उपलब्ध थीं। इधर नवीन सभ्यता के साथ-साथ देश में नवीन भावों का संचार हो रहा था जिसका प्रभाव तत्कालीन साहित्य पर पड़ना अनिवार्य था। इसलिए अपने साहित्य के प्रति अभिरुचि उत्पन्न करने के लिए एक ऐसे प्रतिभा-सम्पन्न योग्य व्यक्ति की आवश्यकता थी जो सामयिक साहित्य से हिन्दी का भंडार भर दे।

यह वह समय था जब दुनियाँ की अन्य भाषाएँ अपने साहित्य-सूर्य के प्रकाश से देदीप्यमान हो रही थीं। केवल हिन्दी ही अन्धकार के गर्त में पड़ी थी। भाग्य ने पलटा खाया और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के रूप में प्रकाश की एक रेखा उत्पन्न हुई और उसका विकास यहाँ तक बढ़ा कि आगे चलकर 'भारतेन्दु' नाम सार्थक हुआ।

भारतेन्दु जी ने थोड़े ही काल में अपनी प्रतिभा के प्रभाव से इतने अधिक ग्रन्थ लिखकर जनता को दिये जिनकी कल्पना करना भी बुद्धि के बाहर की बात है। साथ ही लोगों में हिन्दी के प्रति सच्ची रुचि पैदा की। परिणाम यह हुआ कि आज उस तपस्वी के प्रयत्न से 'हिन्दी' का इतना गौरव बढ़ गया है कि देश की समस्त जनता ने उसे अपनी राष्ट्रभाषा के रूप में अपनाया है।

वंश परिचय

राय बालकृष्ण के पूर्वजों का दिल्ली के शाही घराने से बहुत घनिष्ट सम्बन्ध था। १६५० ई० के लगभग जब शाह शुजा (शाहजहाँ का बेटा) बंगाल का सूबेदार नियुक्त होकर वहाँ गया तो इनके पूर्वज भी दिल्ली छोड़कर उसके साथ चले गये। राजमहल और मुर्शिदाबाद में इनके महलों के खंडहर अब तक पाये जाते हैं। मतलब यह है कि यह घराना बहुत ही सम्पन्न और प्रतिष्ठित था। इसी वंश के बालकृष्ण के पौत्र तथा सेठ गिरधारी लाल के पुत्र सेठ अमीचन्द थे।

अमीचन्द जी भारतीय इतिहास के एक प्रसिद्ध व्यक्ति हैं। ये कलकत्ते में व्यापार करते थे। आरम्भ में अपना व्यापार-कार्य चलाने में अंग्रेज़ों ने इनसे बहुत सहायता ली थी। किन्तु व्यापार के जम जाने पर इन्हें अलग कर दिया गया। इसी समय बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला ने कलकत्ते पर चढ़ाई करके उसे लूट लिया। इस लूट में सेठ अमीचन्द का भी चार लाख रुपया नक़द और बहुत सा

सामान लुटा। इसके बाद अंग्रेज़ों ने अपने अन्य प्रान्तों से सहायता प्राप्त करके पलासी के युद्ध में नवाब को हराकर मीरज़ाफ़र को गद्दी पर बैठाया। इस बार भी अमीचन्द ने इनका साथ दिया। किन्तु जब अंग्रेज़ अपने इस कार्य में सफल हो गये तो इनकी बात भी न पूछी गयी जिससे इन्हें इतना मानसिक क्लेश हुआ कि इस घटना के डेढ़ साल के अन्दर ही इनका भौतिक शरीर इस संसार को छोड़ कर चल बसा।

सेठ अमीचन्द के पुत्र का नाम फ़तहचन्द और फ़तहचन्द के पुत्र का नाम हरषचन्द्र था। हरषचन्द्र के पुत्र का नाम गोपालचन्द्र उपनाम गिरिधरदास था। ये हिन्दी के एक अच्छे कवि थे। इन्होने ४० ग्रन्थों की रचना की। भारतेन्दु बाबू इन्हीं के पुत्र-रत्न थे।

भारतेन्दु जी ने स्वयं अपने वंश का परिचय, निम्न-लिखित पद्य में इस भाँति दिया है :—

वैश्य अग्रकुल में प्रगट, बालकृष्ण कुलपाल।
ता सुत गिरिधर-चरन-रत, वर गिरिधारीलाल॥
अमीचन्द तिनके तनय, फतेचन्द ता नंद।
हरषचन्द जिनके भए, निजकुल सागर-चंद॥
श्री गिरिधर गुरु सेइ के, घर सेवा पधराइ।
तारे निजकुल जीव सब, हरिपद-भक्ति दृढ़ाइ॥
तिनके सुत गोपाल ससि, प्रगटित गिरिधरदास।
कठिन-करम-गति मेंटि जिन, कीनों भक्ति प्रकास॥
मेंटि देव देवी सकल, छोड़ि कठिन कुल रीति।
थाप्यो गृह में प्रेम जिन, प्रगटि कृष्ण-पद-प्रीति॥
पारवती की कोख सों, तिनसों प्रगट अमंद।
गोकुल चन्द्राग्रज भयो, भक्त-दास हरिचंद॥

जीवन-चर्या

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म भाद्रपद शुक्ला ७ संवत् १९०७ को काशी में हुआ था। अभी ये पाँच वर्ष के भी न हुए थे कि इनकी माता का स्वर्गवास हो गया और दस वर्ष की आयु होने के पूर्व ही इनके पिता इन्हें अनाथावस्था में छोड़कर इस लोक से चल बसे। यद्यपि पिता ने अपने जीवन काल ही में इनका विद्यारंभ करा दिया था; किन्तु उनके मर जाने पर इनकी शिक्षा भली भाँति न हो सकी। फिर भी पिता की मृत्यु के अनन्तर चार-पाँच वर्ष तक इनकी शिक्षा चलती रही। अस्तु, जब इनकी अवस्था १५ वर्ष की हुई तो ये अपने परिवार के साथ पहली बार जगन्नाथपुरी की यात्रा को गये। इस समय इनका पढ़ना-लिखना भी बन्द हो गया। यद्यपि इनकी शिक्षा भली भाँति नहीं होने पाई थी, परन्तु बुद्धि-सम्पन्न होने के कारण, एवं बाद में स्वाध्याय से, अपना उद्देश्य सिद्ध करने के लिये इन्होंने पर्याप्त ज्ञान-संचय कर लिया था। वास्तव में यदि इन्हें स्कूल और कालेज में पूर्ण शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिल जाता तो हिन्दी के उपकार की इनसे अधिक आशा की जा सकती थी। पर ईश्वर ने तो इन्हें यहाँ केवल हिन्दी के बीज-वपन के लिए ही भेजा था। अस्तु।

जगन्नाथ जी की यात्रा इनके जीवन की एक महत्वपूर्ण यात्रा है। यहीं से इनके जीवन-नाटक का दूसरा अंक आरम्भ होता है—

सन् १८५७ का सिपाही-विद्रोह शान्त हो चुका था, सर्वत्र प्रायः शान्ति थी और सभी लोग अपनी-अपनी उन्नति के लिए प्रयत्नशील हो रहे थे। इसी समय यात्रा में भारतेन्दु जी को उन्नतिशील वंग-साहित्य एवं उसकी नवीन शैली के नाटकों को देखने का सुअवसर प्राप्त हुआ। इससे नाटकों के प्रति इनकी इतनी रुचि बढ़ी कि

इन्होंने एक बँगला नाटक का हिन्दी में अनुवाद किया और संवत् १९२५ में वह 'विद्यासुंदर' नाम से प्रकाशित हुआ। इसी यात्रा में इन्हें विधवा-विवाह आदि समाज सुधार की बातों का भी परिचय हुआ जिससे सार्वजनिक कार्यों की ओर इनकी प्रवृत्ति बढ़ी। परिणाम-स्वरूप जगदीश-यात्रा से लौटने पर संवत् १९२४ में इन्होंने, बनारस में 'चौखंभा स्कूल' की स्थापना की जो अब तक 'हरिश्चन्द्र-हाई-स्कूल' के नाम से चल रहा है और जिसकी गिनती काशी के अच्छे स्कूलों में है।

संवत् १९२७ में 'कविता-वर्द्धिनी-सभा' और संवत् १९३० में 'पेनीरीडिंग क्लब' तथा 'तदीय-समाज' की स्थापना हुई; पर ये संस्थाएँ अधिक काल तक जीवित न रहीं। इनके अतिरिक्त इन्होंने तत्कालीन देश हित के अनेक कार्यों में भी योग दिया।

इनके जीवन का सबसे अधिक भाग साहित्य-सेवा में ही व्यतीत हुआ और इसका प्रारम्भ उस समय हुआ जब संवत् १९२५ में इन्होंने अपना 'विद्यासुंदर नाटक' प्रकाशित कराया। और तभी से मृत्यु पर्यन्त ये मातृभाषा हिन्दी की सेवा में लगे रहे। यहाँ तक कि संवत् १९४१ में जब यह मृत्युशय्या पर पड़े हुए अपने अंतिम दिन गिन रहे थे, रोगी की दशा में भी 'नाटक' नामक ग्रन्थ की रचना की।

संवत् १९२५ में ही इन्होंने 'कविवचनसुधा' नामक मासिक-पत्र निकाला। कुछ समय बाद यह पाक्षिक और फिर अन्त में साप्ताहिक हो गया जो भारतेन्दु जी की मृत्यु के बाद तक चलता रहा।

संवत् १९३० में इन्होंने 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन' नामक मासिक पत्रिका का निकालना आरम्भ किया। इसकी आठ संख्याएँ ही छप पायी थीं कि यह पत्र 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' नाम में परिवर्त्तित हो गया जो लगभग दश वर्ष तक चलता रहा। संवत् १९३१ में स्त्री शिक्षा-

सम्बन्धी 'बाला-बोधिनी' नामक मासिक-पत्रिका निकाली जो चार वर्ष तक चली और बाद को अर्थाभाव के कारण बन्द हो गयी।

भारतेन्दु जी स्वतंत्र प्रकृति के मनुष्य थे। अपनी बात के सच्चे और आन के पक्के थे। खरी बात कहने में कभी हिचकते न थे। इनके विचारों का पता इनके रचे हुए निम्न-लिखित पद्य से भली भाँति लग जाता है—

खल गनन सों सज्जन दुखी मति होहिं हरिपद-मति रहै।
उपधर्म छूटै, स्वत्व निज भारत गहै, कर-दुख बहै॥
बुध तजहि मत्सर, नारि नर सम होहि, जग आनँद लहै।
तजि ग्राम-कविता सुकवि जन की अमृत बानी सबै कहै॥

इनके स्वाभिमान के विषय में:—

सेवक गुनीजन के, चाकर चतुर के हैं,
कविन के मीत, चित हित गुनगानी के।
सीधेन सों सीधे, महाँ बांके हम बांकेन सों,
हरिश्चन्द्र नगद दमाद अभिमानी के॥
चाहिबे की चाह, काहू की न परवाह,
नेही नेह के दिवाने, सदा सूरत निवानी के।
सरबस रसिक के, सुदास दास प्रेमिन के,
सखा प्यारे कृष्ण के, गुलाम राधा रानी के॥

इस स्वतंत्र प्रकृति के कारण इनकी समाज में भी निंदा हुई और नवीन समाज में भी ये अपमानित हुए और गवर्नमेंट ने भी असन्तुष्ट होकर इनके निकाले पत्र-पत्रिकाओं को सहायता देना बन्द कर दिया। इतना होने पर भी ये अपने व्रत से विचलित नहीं हुए। अस्तु,

यह पहले ही कहा जा चुका है कि भारतेन्दु जी का आगमन ईश्वर की ओर से केवल बीज-वपन के लिए ही हुआ था और इसमें वे भली भाँति सफल हुए। तब से लेकर अब तक हिन्दी की अनेकों पत्र-पत्रिकाएँ निकलीं तथा अब भी निकल रही हैं। भारतेन्दुजी ने हिन्दी को नये साँचे में ढालकर उसका कायापलट ही कर दिया। इन्होंने अपने स्वार्थ त्याग, अध्यवसाय और अपनी प्रतिभा के बल से अपना सर्वस्व होम करके उसे वह स्थायी रूप दिया कि आज भी इस परतंत्रता के युग में वह राष्ट्रभाषा के पद की उम्मीदवार है। जो भारत किसी समय पाश्चात्य सभ्यता के प्रवाह में बह चला था और अपने साहित्य से अनभिज्ञ था, आज भारतेन्दु जी की कृपा से उसमें उसे अपनाने का प्रेम और हौसला है। भारतेन्दु जी ने इस रूप में अपने देश-वासियों को वह अतुल सम्पत्ति प्रदान की है, जिसके लिए वह अमर और सच्चे भारतेन्दु हैं। इनके बनाए हुए तथा अनुवाद किए ग्रन्थों की संख्या १७५ है। इस प्रकार अन्त में साहित्य-सेवा करते हुए, लगभग ३५ वर्ष की अवस्था में माघ कृष्ण ६ सं० १९४१ वि० (६ जनवरी १८८५ ई०) को ये इस संसार से चल बसे। इनके दो पुत्र तथा एक कन्या हुई थी। दोनों पुत्र तो शैशवावस्था में ही मर गये थे। कन्या की संतान अभी तक मौजूद है।

भारतेन्दु जी का साहित्यिक कार्य

गद्य रचना

आज कल हिन्दी गद्य की जितनी उन्नति दिखलाई पड़ती है, उसका सारा श्रेय भारतेन्दु बाबू को ही है। एक प्रकार से ये ही इसके जन्मदाता कहे जाते हैं। इन्होंने ही वर्त्तमान शैली को जन्म दिया है। यह बात सत्य है कि हरिश्चन्द्र काल के पहले हिन्दी-गद्य

का प्रचार हो चुका था; किन्तु उसकी कोई शैली स्थिर न हो पायी थी; लेखकों के लिखने के भिन्न-भिन्न प्रकार थे।

प्राचीन काल में संस्कृति के विचार से खड़ी बोली के दो रूप माने गये, जो हिन्दी और उर्दू के नाम से अब तक प्रचलित हैं। अरबी फ़ारसी के शब्दों की अधिकता होने के कारण फ़ारसी लिपि में लिखी जाने वाली उर्दू कहलाई, जिसे मुसलमानों ने अपनाया और संस्कृत शब्दों की अधिकता होने के कारण नागरी लिपि में लिखी जानेवाली भाषा हिन्दी कहलाई जिसे हिन्दुओं तथा समस्त राष्ट्र ने अपनाया। हिन्दी गद्य (खड़ी बोली) लिखने वाले सर्वप्रथम गग भाट माने जाते हैं, जो संवत् १६२० के लगभग अकबर बादशाह के यहाँ थे। संवत् १६८० मे जटमल ने "गोरा बादल की कथा" भी तत्कालीन गद्य में लिखी थी। इसके बाद मुंशी सदासुख का नाम आता है जिन्होंने भागवत का हिन्दी-अनुवाद "सुखसागर' नाम से किया है जो हिन्दू घरों में अब तक आदर के साथ पढ़ा जाता है। इसके बाद इंशाउल्ला खां, लल्लूजी लाल तथा सदलमिश्र का समय आता है। इनमें सदलमिश्र कृत नासिकेतोपाख्यान की भाषा अधिक पुष्ट है। यह बात माननी पड़ेगी कि हिन्दी खड़ी बोली का प्रचार मुसलमानों की कृपा से बढ़ा क्योंकि वे इसे अपनी संस्कृति (culture) के प्रचार का साधन मानते थे और हिन्दी गद्य का परिमार्जित रूप अँग्रेज़ों की कृपा से हुआ; क्योंकि फ़ोर्टविलियम कालेज के अधिकारियों विशेषतः डा० गिलक्रिस्ट से इस कार्य में विशेष सहायता मिली। उस समय से ईसाई मत के प्रचार के लिए बाइबिल आदि के हिन्दी-अनुवाद भी बहुत हुए जो भाषा की दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण हैं; इनसे हिन्दी का काफ़ी प्रचार हुआ।

इसके बाद राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह का युग आया। इन दोनों ने ही हिन्दी की बड़ी सेवा की। राजा शिवप्रसाद

स्कूलों के इन्स्पेक्टर थे; अत: इनकी कृपा से हिन्दी को स्कूलों में स्थान मिला। इन्होंने अपने मित्रों से हिन्दी की बहुत सी पुस्तकें लिखवायीं और स्वयं भी लिखीं। इनकी लिखी हुई पुस्तकों में अच्छी हिन्दी मिलती है, किन्तु उनमें उर्दू शब्दों की भरमार है। राजा लक्ष्मण सिंह ने संस्कृत के शकुन्तला नाटक का हिन्दी में अनुवाद किया। इनकी भाषा अधिक परिमार्जित है और उसमें शुद्ध संस्कृत शब्दों का आधिक्य है।

इसके पश्चात् भारतेन्दु जी का समय आता है। इनके पूर्व खड़ी बोली के गद्य की छोटी-छोटी पुस्तकें ही लिखी जाती थीं, किन्तु इस समय साहित्य के अनेक अंगों पर ध्यान दिया जाने लगा। भारतेन्दु जी ने साहित्यिक क्षेत्र में आते ही प्रत्येक विषय की रचना से हिन्दी को भूषित करना प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने राजा लक्ष्मण सिंह के अनुकूल हिन्दी में संस्कृत शब्दों का ही बाहुल्य रक्खा और यह कार्य इतनी तत्परता एवं लगन से किया कि हिन्दी का वर्त्तमान गढ़ उन्हीं की रक्खी हुई सुदृढ़ नींव पर स्थित होकर नित्यप्रति नवीन रूप में शोभित और मज़बूत होता चला जा रहा है। यद्यपि उन्होंने हिन्दी में अरबी फ़ारसी शब्दों का भी प्रयोग किया है, किन्तु संस्कृत शब्दों के तद्भव रूप ही अधिक मात्रा में प्रयोग में लाये गये हैं जिससे कि भाषा में विदेशीपन न आने पावे। यही कारण है कि आज वह राष्ट्रभाषा के सम्मानित पद से अलंकृत है।

इसमें सन्देह नहीं कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने उसे शक्ति-सम्पन्न करके राष्ट्र के स्वीकार करने योग्य बनाया है। इतना ही नहीं, भारतेन्दु जी ने हिन्दी के बनाने में अपना सर्वस्व होम कर दिया। अनेक विषयों पर ग्रन्थ लिखे तथा लिखवाये; उन्होंने जो पत्र-पत्रिकाएँ निकालीं उनमें प्रत्येक विषय पर लेख प्रकाशित कर लोगों में विशेष रुचि की उत्पत्ति की। इसके लिए उनके कवि वचन सुधा, और हरिचन्द्र-चन्द्रिका नामक

पत्र हिन्दी-साहित्य के इतिहास में स्मरणीय वस्तु हैं।

शैली के सम्बन्ध में भारतेन्दु जी ने अपनी 'काल-चक्र' नामक पुस्तक में स्वयं लिखा है कि "हिन्दी नई चाल में ढली"। इससे स्पष्ट बोध होता है कि शैली निर्धारित करने के विषय में भी उनका कोई अभिप्राय था और वह यह कि जब तक साहित्यिक दृष्टि से भाषा पुष्ट न होगी तब तक वह किसी प्रकार की उन्नति नहीं कर सकती, राष्ट्र-भाषा होना तो दूर की बात है। कहीं कहीं बीच में भारतेन्दु जी ने अपनी भाषा में मुहाविरों और लोकोक्तियों का भी प्रयोग किया है जिससे भाषा में अनुपम सौन्दर्य आ गया है। भारतेन्दु जी की शैली सबके लिए उपयोगी है और सभी ने उसे अपनाया है। यद्यपि भारतेन्दु जी ने अपनी भाषा में व्याकरण का उतना नियन्त्रण नहीं रक्खा है जितना रखना चाहिए; किन्तु यह मानना पड़ेगा कि उन्होंने हिन्दी भाषा को बनाने में कोई बात उठा न रक्खी और उसे उस साँचे में ढाला जिससे वह बिना किसी हिचकिचाहट के उन्नति पथ पर अग्रसर होती चली जा रही है।

पद्य रचना

यद्यपि हिन्दी में सूर, तुलसी, केशव, बिहारी, पद्माकर, भूषण आदि उच्च कोटि के अनेक कवि हो गये हैं, फिर भी भारतेन्दु जी अपने समय के उच्च कवि माने जाते हैं। भारतेन्दु जी की कविता हिन्दी में नवीन शैली की पताका लेकर आयी और साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में शान-शौकत से फहराई। भारतेन्दु जी ब्रजभाषा में ही कविता न करते थे खड़ी बोली में भी उनकी कविता सरल और सरस होती थी। उन्हें संस्कृत में भी कविता करने का अभ्यास था; किन्तु ये ब्रजभाषा के माधुर्य पर ही अधिक मुग्ध रहते थे। ये बड़े मौजी जीव थे; अतः इनकी कविताओं में प्रत्येक रस का स्वाद मिलता है। शृङ्गार, प्रेम, भक्ति, देश-

सेवा, करुण, हास्य रस आदि सभी विषयों पर इन्होंने कविताएँ लिखी हैं।

इनका प्राकृत-वर्णन बड़ा सुन्दर है। इससे इनके कवि-मस्तिष्क का अच्छा परिचय मिलता है। इन्होंने गंगा, यमुना का वर्णन बड़े ही रोचक ढङ्ग से किया है। इसके अतिरिक्त अपनी कविता में इन्होंने वर्त्तमान समय तथा हिन्दुओं की गिरी हुई दशा की भी कड़ी आलोचना की है। इनकी कविता में भावों की व्यापकता भी अच्छी मात्रा में पाई जाती है। इस क्षेत्र में भारतेन्दु जी का यही महत्त्व है कि ये प्राचीन शैली में परिवर्त्तन करके साहित्य को शुद्ध मार्ग की ओर लेकर चले। इस दृष्टि से इनका स्थान हिन्दी मे बहुत ऊँचा है। इनकी कविता के कुछ नमूने यहाँ दिये जाते हैं—

भारतीय सेना के मिस्र में विजय प्राप्ति के समाचार पाने के उपलक्ष्य में —

तड़ित तार के द्वार मिल्यो सुभ समाचार यह—
भारत सेना कियो घोर संग्राम मिस्र महँ॥
जेनरल मकफरसन आदिक जे सेनापति-गन।
तिन लै भारत सैना कियो भारी अति ही रन॥
बोलि भारती सैन दई आयसु उठि धाओ।
अभिमानी अरबी बेगहि बेगहि गहि लाओ॥
सुनि कै सबही परम वीरता आज दिखाई।
सत्रु गनन सों सन्मुख भारी करी लराई॥
छिन में सत्रु भगाइ गह्यो अरबी पासा कहँ।
तीन सहस रनबीर करे बँधुआ संगर महँ॥
आरजगन को नाम आजु सब ही रख लीनो।
पुनि भारत को सीस जगत महँ उन्नत कीनो॥

भारतीय वीरों के विषय में—

कित अर्जुन कित भीम कित, करन नकुल सहदेव।
कित विराट अभिमन्यु कित, द्रुपद सख्य नरदेव॥

भारत दुर्दशा के विषय में—

रोअहु सब मिलि कै आवहु भारत भाई।
हा हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई॥
सबके पहिले जेहि ईश्वर धन बल दीनो।
सबके पहिले जेहि सभ्य विधाता कीनो॥
सबके पहिले जो रूप रंग रस भीनो।
सबके पहिले विद्याफल जिन गहि लीनो॥
अब सबके पीछे सोई परत लखाई।
हा हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई॥
जहँ भए शाक्य हरिचंद्र नहुष ययाती।
जहँ राम युधिष्ठिर बासुदेव सर्याती॥
जहँ भीम करन अर्जुन की छटा दिखाती॥
तहँ रही मूढ़ता कलह अविद्या राती॥

गंगा वर्णन

नव उज्जल जलधार हार-हीरक सी सोहति।
बिच-बिच छहरति बूँद मध्य मुक्ता-मनि पोहति॥

× × ×

सुभग स्वर्ग सोपान सरिस सबके मन भावत।
दरसन-मज्जन पान त्रिविध भय दूर मिटावत॥
श्री हरि-पद-नख चंद्रकांत-मनि द्रवित सुधारस।
ब्रह्म कमंडल-मंडन भव-खंडन सुर-सरबस॥

× × ×

सुन्दर सखि मुख नीर मध्य इमि सुन्दर सोहत ।
कमल बेलि लहलही नवल कुसुमन मन मोहत ॥
दीठि जहीं जहँ जात रहत तितही ठहराई ।
गंगा-छबि हरिचंद कछू बरनी नहि जाई ॥

यमुना वर्णन

तरनि-तनूजा-तट तमाल तरुवर बहु छाए ।
झुके कूल सों जल-परसन-हित-मनहुँ सुहाए ॥
किधौं मुकुर मैं लखत उझकि सब निज सोभा ।
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा ॥
मनु आतप बारन तीर को सिमिटि सबै छाए रहत ।
कै हरि सेवा-हित नै रहे निरखि नैन मनसुख लहत ॥

× × ×

परत चंद्र-प्रतिबिंब कहूँ जल मधि चमकायो ।
लोल लहर लहि नचत कबहुँ सोई मन भायो ॥
मनु हरि-दरसन हेत चंद जल बसत सुहायो ।
कै तरंग कर मुकुर लिए सोभित छबि छायो ॥
कै रास-रमन मैं हरि-मुकुट-आभा जल दिखरात है ।
कै जल-उर हरि-मूरति बसति ता-प्रतिबिंब लखात है ॥

× × ×

कहूँ बालुका बिमल सकल कोमल बहु छाई ।
उज्जल झलकत रजत सीढ़ि मनु सरस सुहाई ॥
पिय के आगम हेत पाँवड़े मनहुँ बिछाए ।
रत्नराशि करि चूर कूल मैं मनु बगराए ॥
मनु मुक्त माँग सोभित भरी, श्याम नीर-चिकुरन परसि ।
सतगुन छायो कै तीर मैं, ब्रज निवास लखि हिय हरसि ॥

चन्द्रावली नाटिका में ललिता का पद—

हम भेद न जानिहैं जो पै कछू,
औ दुरावा सखी हम पै परि है।
कहि कौन मिलै हैं पियारे पियै,
पुनि कारज कासों सबै सरि है॥
बिन मोसों कहे न उपाव कछू,
यह बेदन दूसरी को हरि है।
नहिं रोगी बताइ है रोगहि जौं,
सखी बापुरो बैद कहा करि है॥

चन्द्रावली का पद—

सखि ये नैना बहुत बुरे!
तब सों भये पराये हरि सों जब सों जाइ जुरे।
मोहन के रस बस ह्वै डोलत तलफत तनिक दुरे॥
मेरी सीख प्रीति सब छाँड़ी ऐसे ये निगुरे।
जग खीझ्यो बरज्यो पै ये नहिं हठ सों तनिक मुरे।
अमृत भरे यह देखन कमलन से विष के बुते छुरे॥

इस प्रकार भारतेन्दु जी ने शृङ्गार, रौद्र, हास्य, करुण आदि रसों की कविता करके अपने व्यापक मस्तिष्क का भली भाँति परिचय दिया है।

नाटक रचना

मूलग्रंथ में ही बतलाया जा चुका है कि काव्य के श्रव्य और दृश्य नामक दो भेद हैं। इनमें दृश्य काव्य सर्वोत्कृष्ट है; क्योंकि हृदय पर जैसा इसका प्रभाव पड़ता है, वैसा श्रव्य काव्य का नहीं। दृश्य काव्य का उपयोग क्रियात्मक रूप में नाटक (Drama) द्वारा किया जाता है। इसमें सजीवता की जो छाया रहती है, वह श्रव्य काव्य में

नहीं हो सकती। यद्यपि आजकल नाटक का स्थान सिनेमा (छाया-नाटक) ने ले लिया है और वास्तव में यह भी नाटक का एक अंग ही है—किन्तु इसके पूर्व जब देश में सर्वत्र नाटकों का प्रचार था, स्थान-स्थान पर नाटक-कम्पनियाँ विद्यमान थीं. इसकी सजीवता का चित्र आँखों के सामने है। असली बात तो यह है कि नाटक द्वारा कथा का सच्चा रूप सामने आ जाता है। अस्तु।

पूर्व इसके कि हम भारतेन्दु जी के नाटकों के विषय में कुछ कहें, नाटकों के इतिहास एवं उनके विकास पर प्रकाश डालना चाहते हैं—यह तो ज्ञात ही है कि नाटकों की रचना नृत्य एवं संगीत से हुई है। प्राचीन काल में ऋतु-परिवर्त्तन के अवसर पर लोग अपनी रक्षा के निमित्त देवताओं से नाच-गाकर प्रार्थना किया करते थे। कुछ समय तक तो यह नियम यों ही चलता रहा, किन्तु बाद में ये नाच गाने मनुष्यों के मनो-विनोद की सामिग्री बन गये और फिर विवाह-शादी तथा त्यौहारों के उत्सव में भी नाचने-गाने की प्रथा चल पड़ी। इसके लिए हमारे यहाँ होली का त्यौहार विशेष प्रसिद्ध है। इस त्यौहार पर विशेष उत्सव का यही कारण है कि एक तो ऋतु का परिवर्त्तन दूसरे नवीन फ़सल का कटना; यहाँ तक कि यह प्रथा किसी न किसी रूप में अब तक चली आती है। इसके बाद संमाननीय पूर्वजों एवं वीर पुरुषों के संस्मरण में भी नाच-गाने होने लगे और क्रम क्रम से इसमें विकास होते-होते उनके चरित्रों का अभिनय रूप में दिग्दर्शन होने लगा।

यह निर्विवाद है कि सबसे प्रथम नाट्यशास्त्र की रचना भारतवर्ष में ही हुई। इस देश की सब से प्राचीन पुस्तक ऋग्वेद में इसकी छाया संवाद रूप में मिलती है; क्योंकि संवाद भी नाटक का एक अंश है। अतः यह मानने में किंचिन्मात्र भी संदेह नहीं है कि नाटकों की उत्पत्ति का युग वैदिक काल ही है। पाणिनि ऋषि ने अपने अष्टाध्यायी ग्रंथ में कृशाश्व एवं शिलालिन् नाट्य-शास्त्रकारों का उल्लेख किया है;

जिनका समय ईसा से लगभग ४०० वर्ष पूर्व माना जाता है, इसके अतिरिक्त हरिवंश पुराण—जिसकी रचना महाभारत से कुछ ही काल पीछे हुई है—में 'रामजन्म' तथा 'कौवेररभाभिसार' नाटकों की चर्चा है। इससे सिद्ध होता है कि नाटक-रचना यहाँ प्राचीन काल से ही चली आती है।

नाटकों का प्रारंभिक रूप कठपुतली के नाच से होता है। बाद में यही नाच विकसित होकर, रंचमंच पर मनुष्यों के द्वारा अभिनय के रूप में आया। नाटक में 'सूत्रधार' तथा 'स्थापक' ये दोनों शब्द कठपुतली के नाच से ही आये हैं। क्योंकि कठपुतलियाँ डोरे से नचाई जाती थीं और डोरे से नचाने वाला सूत्रधार कहलाता था तथा खेल आरम्भ होने से पहले जो उन्हें सजाता था, वह स्थापक के नाम से विख्यात था। यह नाच किसी समय इतनी उन्नतावस्था में था कि पुतलियाँ उड़ जाती थीं और आदेश करने पर अभीष्ट कार्य कर डालती थीं। इसके बाद पुतलियों द्वारा ही यहाँ छाया-नाटक की उत्पत्ति हुई; क्योंकि परोक्ष में जो कठपुतलियाँ करती थीं, प्रकाश में, परदे पर, उन्हीं का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता था। आज के सिनेमाओं की तुलना इन्हीं छाया-नाटकों से की जा सकती है। अन्तर केवल इतना ही है कि आजकल ये प्रतिबिम्ब छोटे-छोटे चित्रों से परदे पर डाले जाते हैं, प्राचीन काल में इनके स्थान पर कठपुतलियाँ ही रहती थीं। क्रम-क्रम से उन्नति होती गयी और यहाँ तक उन्नति हुई कि नाटक के सम्बन्ध में लक्षण-ग्रंथ भी तैयार किये जाने लगे। नायक, नायिका, रंगमंच, पात्र आदि नाटक-सम्बन्धी सभी बातों की परिभाषाएँ और विवेचना होने लगी।

यह तो हुई प्रथम युग की बात, अब हम मध्ययुग में पदार्पण करते हैं—

इस युग के नाटकों का आरम्भ कविकुलगुरु कालिदास से माना

जाता है। इनका पहला नाटक 'मालविकाग्निमित्र' है दूसरा 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' है, जिसकी गणना संसार के सर्वश्रेष्ठ नाटकों में है। तीसरा इनका विक्रमोर्वशी नाटक भी उत्तम कोटि का है। कुछ लोग कालिदास का समय ईसा से कुछ पूर्व अथवा उसके समकालीन मानते हैं और कुछ लोगों का मत है कि वे ईसा की पाँचवीं शताब्दी में हुए थे। इन दोनों में पहला समय ही अधिक प्रमाणित सिद्ध होता है; क्योंकि ये उज्जैन के राजा विक्रमादित्य की सभा के नवरत्न थे और विक्रमादित्य के समय को व्यतीत हुए लगभग दो हज़ार वर्ष हो चुके। प्रमाण-स्वरूप उनका चलाया सवत् १९९८ इस समय चल रहा है। अस्तु, कालिदास के पश्चात् बहुत काल तक नवीन नाटकों के दर्शन ही न हुए। इसके बाद ईसा की छठी शताब्दी में शूद्रक के 'मृच्छकटिक' नाटक की रचना का प्रमाण मिलता है। ईस्वी सातवीं शताब्दी में श्री हर्ष हुए जिनकी रत्नावली नाटिका तथा नागानन्द नाटक प्रसिद्ध हैं। इसके बाद भवभूति हुए, इनका समय आठवीं शताब्दी है। ये संस्कृत के प्रसिद्ध नाटककार हैं। इनके नाटक—मालतीमाधव, महावीरचरित, और उत्तररामचरित—उस युग की शोभा बढ़ा रहे हैं।

ईसा की नवीं शताब्दी में भट्टनारायण ने वेणीसंहार और विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस की रचना की थी तथा इसी शताब्दी के अंत में राजशेखर के कर्पूर-मंजरी, बालरामायण, बालभारत और विद्धशालभंजिका नाटकों की रचना का प्रमाण मिलता है। ग्यारहवीं शताब्दी में दामोदरमिश्र ने हनुमन्नाटक बनाया और इसी शताब्दी के अंत में कृष्णमिश्र ने 'प्रबोध-चन्द्रोदय' नाटक लिखा। बारहवीं शताब्दी में आर्यक्षेमीश्वर का 'चंडकौशिक' नामक प्रसिद्ध नाटक तैयार हुआ। अस्तु, यहाँ पर संस्कृत के केवल प्रधान नाटक एवं नाटककारों का ही उल्लेख किया गया है। इनके अतिरिक्त और

भी बहुत से नाटक बने थे। इसके अतिरिक्त नाटकों के सम्बन्ध में कुशाश्व, शिलालिन् तथा भरत के लक्षण-ग्रंथ बहुत पहले ही तैयार हो चुके थे। विक्रम की नवीं शताब्दी में धनंजय कृत दशरूपक और चौदहवीं शताब्दी में महापात्र विश्वनाथ कृत साहित्य-दर्पण' नामक उत्कृष्ट ग्रंथ हमारे सामने आये। इससे पता चलता है कि इस समय तक संस्कृत-नाटक-रचना की यहाँ कितनी उन्नति हो चुकी थी। यह बात स्वाभाविक है कि जब किसी की उन्नति चोटी तक पहुँच जाती है, तो उसकी अवनति भी अवश्य होती है। यही दशा संस्कृत-साहित्य एवं उसके नाटकों की भी हुई।

इस समय देश के हिन्दू - राज्य का बागडोर मुसलमान शासकों के हाथों में चली गयी थी। सर्वत्र प्रायः अशांति सी रहा करती थी। इसके अतिरिक्त मुसलमान शासक धार्मिक दृष्टि से नाच-गाने आदि के विरोधी भी थे, अतः संस्कृत नाटकों की धारा एकदम रुक गयी और नाटकों की इस फलती, फूलती फुलवारी पर यकायक तुषारापात हो गया। अब लोग प्रान्तीय भाषाओं की ओर झुकने लगे। इसी समय विद्यापति ठाकुर ने 'पारिजात हरण' और रुक्मिणी-परिणय नामक नाटक उपस्थित किये। इनकी भाषा संस्कृत, प्राकृत - मिश्रित मैथिल थी, जो हिन्दी का ही एक अंग है। इसके पश्चात् विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी में 'प्रबोध-चन्द्रोदय' का अनुवाद महाराज जसवंतसिंह ने, हिन्दी में किया और लगभग इसी समय ब्रजबासीदास जी ने भी इसका एक अनुवाद कर डाला। अठारहवीं शताब्दी में जन अनन्य ने तथा इसी शताब्दी के मध्य में सूरति मिश्र ने भी इसका एक अनुवाद किया। इसके अतिरिक्त उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक हनुमन्नाटक आदि संस्कृत के अन्य नाटकों के भी अनुवाद हुए; किन्तु ये अनुवाद संस्कृत नाटकों की धारा को देखते हुए नगण्य थे। कहना न होगा कि इस समय तक नाट्य-कला नाम मात्र को ही यहाँ शेष रह गयी थी।

इसके बाद जब से भारतवर्ष अंग्रेज़ों के सम्पर्क में आया, तब से उनके कला-कौशल का प्रभाव यहाँ भी पड़ने लगा और तदनुकूल लोगों में नाटकों एवं रंगशालाओं का प्रचार हुआ।

आरंभ में पारसियों ने कंपनियाँ बनाकर इस कार्य में बड़ा योग दिया और स्थान-स्थान पर नाटक खेलकर लोगों में नाटकों की रुचि उत्पन्न की। बाद में अन्य लोगों ने भी इस ओर ध्यान दिया और नये-नये नाटकों की रचना होने लगी।

यद्यपि हिन्दी में देवकवि कृत 'देवप्रपंच माया नाटक,' नेवाज कवि का 'शकुंतला नाटक,' हृदयराम का 'हनुमन्नाटक' आदि कई नाटक कई सौ वर्ष पूर्व के बने हुए विद्यमान हैं, किन्तु नाट्य-कला की दृष्टि से उन्हें नाटक कहना संगत नहीं प्रतीत होता; क्योंकि उनमें नाटक के नियमों का अभाव है। हाँ, प्रभावती और आनंद-रघुनंदन आदि किसी प्रकार नाटक श्रेणी में गिने जा सकते हैं। इसके बाद भारतेन्दुजी के पिता बा० गोपालचन्द्र उपनाम गिरिधरदासजी का 'नहुष नाटक' बना, जो ब्रजभाषा में है, तत्पश्चात् राजा लक्ष्मणसिंह ने 'शकुन्तला नाटक' की रचना की। यद्यपि यह नाटक संस्कृत के 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' का अनुवाद है, तथापि भाषा, भाव के विचार से यह सुन्दर है और हिन्दी में इसका अच्छा मान है।

इसके पश्चात् एक ऐसा समय आया, जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। यह समय हिन्दी-साहित्य विशेष कर नाटक-रचना की दृष्टि से बड़ा ही महत्वपूर्ण है। इस समय भारतेन्दु जी ने अपनी प्रतिभा एवं कार्य-कौशल से हिन्दी-जगत् को ऐसा चमत्कार दिखलाया कि वह समय ही 'भारतेन्दु-युग' के नाम से साहित्य में प्रसिद्ध है:—

यों तो भारतेन्दुजी ने अपने जीवन-काल में अठारह नाटकों की रचना की थी किन्तु उनमें चौदह ही अधिक प्रसिद्ध हैं, जिनमें ५ अनुवादित,

७ मौलिक तथा २ अपूर्ण हैं। अनुवादितों में विद्यासुन्दर पाखंड-विडंबन, धनंजय-विजय, कर्पूरमंजरी और मुद्राराक्षस हैं। विद्यासुन्दर तो बँगला से अनुवादित है, शेष चारों संस्कृत या प्राकृत से। ये अनुवाद ऐसे सुदर हुए हैं कि इनमें मौलिकता का आनन्द मिलता है। इन पांचों में भी कर्पूर मंजरी और मुद्राराक्षस का स्थान उत्तम है।

भारतेन्दुजी के मौलिक नाटकों में सब से पहले संवत् १९३० में "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" नामक प्रहसन लिखा गया था। इसमें मांस, मदिरा खाने तथा विधवा-विवाह आदि के सम्बन्ध में टीका-टिप्पणी की गयी है तथा दिखलाया गया है कि धर्म की ओट में लोग किस प्रकार अनाचार करते हैं। इनका सबसे मौलिक नाटक 'सत्य हरिश्चन्द्र' है यह करुण रस प्रधान है और इसमें राजा हरिश्चन्द्र की सत्यता, राजधर्म तथा पति-पत्नी के आदर्श उपस्थित किये गये हैं।

भारतेन्दु जी की चन्द्रावली नाटिका भी उनके प्रसिद्ध ग्रंथों में से है। इसका संस्कृत तथा व्रजभाषा में अनुवाद भी हो चुका है। यह नाटक भारतेन्दुजी को बहुत पसन्द था और वह इसका अभिनय भी कराना चाहते थे, किन्तु उनकी यह इच्छा पूरी न हो सकी। इस नाटक की भाषा बड़ी मधुर और परिमार्जित है। इसमें शुद्ध प्रेम का चित्र खींचा गया है। यह सब होते हुए भी कहीं कहीं पर इसमें अस्वाभाविकता की झलक दिखाई पड़ती है। जो कुछ भी हो, इसका चरित्र-चित्रण सुन्दर है।

"विषस्य विषमोषधम्" यह नाटक का एक भेद भाण है। सन् १८७५ ई० में बड़ौदा नरेश महाराज मल्हारराव ने अपने कुप्रबन्ध एवं कुत्सित व्यभिचार के प्रकट हो जानेपर रुष्ट होक रेज़िडेंट के साथ बुरा वर्त्ताव किया था, इसी पर, जाँच द्वारा, जुर्म साबित हो जाने पर, सरकार की ओर से उन्हें राज्यच्युत की आज्ञा द गयी थी। लेखक ने यही विषय इसमें वर्णित किया है; साथ ही

सरकार की प्रशंसा भी की है जिससे अन्य देशी नरेश इससे शिक्षा ग्रहण करें और अपनी प्रजा के साथ बुरा वर्त्ताव न कर सकें। इस भाण में कहीं कहीं अश्लीलता की भी छाप है।

"भारत दुर्दशा" और "नीलदेवी" भारतेन्दु जी की सफलता के मुख्य चिह्न हैं। इनके द्वारा उन्होंने देश का एक सजीव तथा आदर्श चित्र उपस्थित किया है। इन रचनाओं में देश-प्रेम का भाव कूट-कूट कर भरा है। 'भारत-दुर्दशा यह छः अंकों का एक छोटा सा रूपक है, इसमें भारतवर्ष की वर्त्तमान अवस्था का सुन्दर चित्र खींचा गया है; पर इसका अन्त दुःखमय है। यह इस रचना में एक दोष है; क्योंकि इससे निराशा की भावना उत्पन्न होती है। 'नीलदेवी' यह वीर, करुण, तथा हास्य रस का संमिश्रण है। संक्षेप में इसका कथानक इस भाँति है:—

पंजाब का राजा सूर्यदेव, अब्दुलशरीफ़ से हारकर बंदी हो जाता है और मार डाला जाता है। उसकी रानी नीलदेवी नर्तकी का वेष धारण करके मुसलमान सरदार के डेरे में जाती है। सरदार नीलदेवी के रूप-लावण्य, हाव-भाव, तथा नाच और गीत पर मोहित हो जाता है। मौका पाकर, शराब में मस्त देखकर नीलदेवी उसका सर काट लेती है और फिर पति के संग सती हो जाती है। इससे नीलदेवी के बुद्धि-चातुर्य एवं क्षत्रियत्व का अच्छा आभास मिलता है। भारत की रमणियों के लिए यह एक सबक़ है।

'अंधेर नगरी' हास्यरस प्रधान नाटक है। यह इसी से प्रसिद्ध है कि इसकी यह युक्ति—'अंधेर नगरी चौपट्ट राजा, टका सेर भाजी टका सेर खाजा' सर्व व्यापक है। इनके अपूर्ण नाटकों में 'प्रेमजोगिनी' की लोगों ने बड़ी प्रशंसा की है। भारतेन्दुजी इसके पहले अंक के केवल चार गर्भांक ही लिख पाये हैं; लेकिन जहाँ जो वर्णन किया है, उसमें कमाल हासिल किया है। इन चारों गर्भांकों की कथा भी भिन्न है।

यद्यपि भारतेन्दुजी ने अपने नाटकों में नाटक-सम्बन्धी विशेष नियमों की ओर ध्यान नहीं दिया है, किन्तु यह कहना असंगत है कि वे नाटक के नियमों से अनभिज्ञ थे। उदाहरणार्थ तद्विषयक उनका 'नाटक' निबन्ध हाथ में है। उन्होंने संक्षेप में नाटक की हर एक बात का ही इसमें वर्णन किया है। वास्तव में बात यह है कि उनपर नवीन ढंग के बँगला नाटक तथा तत्कालीन खेले जाने वाले पारसी-कम्पनियों के नाटकों का अधिक प्रभाव पड़ा था; इसीलिए भारतेन्दु जी ने प्राचीन नियमों के बन्धनों को छोड़कर समयानुकूल अपने नाटकों को नवीनता के आभरण से अलंकृत किया था। उन्होंने अपने 'नाटक' नामक निबन्ध में स्वयं लिखा है कि "अब नाटक में कहीं आशीःप्रभृति नाट्यालङ्कार, कहीं प्रकरी, कहीं विलोभन, कहीं संफेट, पंचसंधि वा ऐसे ही अन्य विषयों का कोई आवश्यकता नहीं रही।"

फिर भी यह मानने में किंचिन्मात्र भी हिचकिचाहट नहीं है कि हिन्दी में भारतेन्दु जी की कृतियों से ही दृश्य-काव्यों का आरम्भ होता है। पूर्व नाटककारों की अपेक्षा इन्होंने भाषा और कथानक की दृष्टि से अपने नाटकों को वह परिमार्जित रूप दिया जिससे हिन्दी साहित्य में इनके नाटकों का महत्त्व है। 'हरिश्चन्द्र' नाटक को ही लीजिए—यद्यपि इसमें अर्थप्रकृतियों, अवस्थाओं एवं संधियों का अभाव है, किन्तु यह स्टेज पर खेलने योग्य एक सुन्दर नाटक है। यह भारतीय ढंग का पौराणिक आख्यान है।

भारतेन्दुजी ने अपने नाटकों में न तो शुद्ध भारतीय पद्धति का ही अनुसरण किया है और न योरोपीय पद्धति का। अपनी रुच्यनुकूल दोनों की कुछ कुछ बातों का, पारसी नाटक कम्पनियों तथा आधुनिक बँगला नाटकों के ढङ्ग पर उपयोग किया है। वास्तव में भारतेन्दुजी अनेक विषयों पर नाटक लिखकर हिन्दी-साहित्य के एक अंग की पू[illegible] की है। इनके दिखलाए हुए मार्ग पर चल कर इस विषय में लोगों

इतनी उन्नति करली है कि स्कन्दगुप्त, अजातशत्रु, जनमेजय आदि उत्तम कोटि के नाटक आज हिन्दी-साहित्य में विद्यमान हैं।

उपसंहार

उपसंहार के तौर पर केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि भारतेन्दुजी ने अपने जीवन के अल्पकाल में ही अपने साहित्य की इतनी सामिग्री हिन्दी - संसार को भेंट कर दी है, जिसके लिए हिन्दी-संसार उनका ऋणी है। यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि इनके बनाये हुए ग्रंथों की कुल संख्या १७५ है। ये ग्रन्थ खड्गविलास प्रेस से छः भागों में प्रकाशित भी हुए हैं—

प्रथम भाग में नाटक-नाटिकाओं का संग्रह है, दूसरे में इतिहासों का और तीसरे में कविताओं का। चौथे में भक्ति पक्ष के अठारह ग्रन्थ हैं; पांचवें में भी प्रधान ग्रन्थ अठारह ही हैं जिनमें प्रेम का वर्णन है। छठे भाग में हँसी के छोटे-छोटे चुटकुले और कई निबन्ध हैं।

भारतेन्दुजी ने सभी विषयों पर कुछ न कुछ प्रकाश डाला है। साहित्य-प्रेम के तो वे अगाध समुद्र थे। उनका स्वार्थत्याग एवं अध्यवसाय तो अपना सानी ही नहीं रखता। जब वह संसार में आये तो एक अमीर की हैसियत से और जब गये तो फ़क़ीरी ठाठ से। उन्होंने अपनी सम्पति से हिन्दी-साहित्य की अमूल्य सामिग्री तैयार की और उसे वितरण किया देश के असंख्य हिन्दी-भाषी भिक्षुकों में। यद्यपि भारतेन्दु जी आज इस संसार में नहीं हैं किन्तु उनकी काव्य-चंद्रिका आज भी अपने पूर्ण विकास के साथ सर्वत्र फैली हुई है और जब तक इस पृथ्वी पर हिन्दी भाषा तथा हिन्दी-भाषियों का नाम रहेगा, यह चंद्रिका नित्य नये रूप में प्रकाशित होती रहेगी।

दामोदरस्वरूप गुप्त